



❀ परोपकाराय सता विभूतयः ❀

ॐ

श्री मद्भिजयातन्दसूरिभ्यो नमः

श्रीमद्भैरवसूरिविरचित—

# कर्मस्तव—दूसरा कर्मग्रन्थ ।

( हिन्दी अनुवाद-सहित )

प्रकाशक—

श्रीआत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल  
रोगनमोदरुला, आगरा ।

वीर मकत २४७४ ।

{ इसवी सा. १९१८

प्रथमवार १००० }

{ पन्की जिल्द III }  
{ कच्छी जिल्द III }

या० लक्ष्मीनारायण के प्रब ध से धेष्ठ प्रिंटिंग प्रेस, आगरा में छपा





Raja Bejoy Sing Dudhoria of Azimganj



## ग्रन्थ-क्रम

—CONTENTS—

	पृ०
सूचना	
निवेदन	
प्रस्तावना	१-११
विषयसूची	१२-१५
शुद्धिपत्र	१७-१६
अनुवाद	१ ६३
परिशिष्ट	६४-६६
कोश	६६-११६
मूल कर्मस्तव	११७-१२०

## \* सूचना \*



इस पुस्तक के आरम्भ में जिन महानुभाव का फोटी है व जैनसमाज के श्रीमानों में से एक हैं। वे श्रीजीमगज के प्रतिष्ठित रहस्य हैं। कर्मग्रन्थ के इस अनुवाद में उनकी उदारता का उपयोग किया गया है। एतदर्थ हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। आग के कर्मग्रन्थों के अनुवाद तैयार हो रहे हैं तथा छप भी रहे हैं। इस लिये जो, भगवान् महावीर की वाणी के उपासक अपनी चञ्चल लक्ष्मी का सदुपयोग करना चाहें वह हमें सूचना दें जिससे कि पवित्र ग्रन्थों के सर्वांगीण अनुवाद कार्य में उनकी लक्ष्मी का उपयोग किया जाय। इस का मूल्य लागत से भी कुछ कम हा रक्खा गया है। कागज, छपाई आदि सब वस्तुओं की अति अधिक महँगी के कारण मूल्य अधिक होता है। हमारा उद्देश्य सस्त में धार्मिक साहित्य का प्रचार करना है। जहाँ तक सम्भव है हम अपने उद्देश्य की ओर पूर्ण लक्ष्य देते हैं।

श्रीआत्मानन्द जैन पुस्तक  
मदल रोशन मोहल्ला }  
आगरा

आप का—  
तथी

# निवेदन ।

पाठक ! यह दूसरे कर्मग्रन्थ का हिंदी अनुवाद मूल तथा छाया सहित आपकी सेवामें उपस्थित किया जाता है। पहिले कर्मग्रन्थ के बाद दूसरे कर्मग्रन्थ का अध्ययन परमावश्यक है। क्योंकि इस के बिना पढ़े तीमरा आदि अगले कर्मग्रन्थोंमें तथा कम्मपयडी, पञ्चसग्रह आदि आकर ग्रन्थों में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता। इस लिये इस कर्मग्रन्थ का भी महत्त्व बहुत अधिक है। यद्यपि इस कर्मग्रन्थ की मूल गाथायें सिर्फ चौतीस ही हैं तथापि इतन में प्रचुर विषय का समावेश ग्रन्थकार ने किया है। अत एव परिमाण में ग्रन्थ बड़ा न होने पर भी विषय में बहुत गभीर तथा विचारणीय है।

इस अनुवाद के आरंभ में एक प्रस्तावना दी हुई है जिस में दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना का उद्देश्य, विषय वर्णन शैली, विषय विभाग, 'कर्मस्तव' नाम रखने का अभिप्राय इत्यादि विषय, जिन का सम्बन्ध दूसरे कर्मग्रन्थमें है, उन पर धोड़ा, पर आवश्यक विचार किया गया है। पीछे गुणस्थान के सामान्य स्वरूपके सम्बन्ध में सक्षिप्त विचार प्रगट किये गये हैं। बाद विषय सूची दी गई है, जिससे ग्रन्थके विषय, गाथा और पृष्ठ वार मालूम हो सकते हैं। अनंतर शुद्धिपत्र है। तत्पश्चात् मूल, छाया, हिंदी अर्थ तथा भाषार्थ सहित 'कर्मस्तव' नामक



दूसरा कर्मग्रन्थ है। इस में योग्यस्थानों में यत्र—नक्षत्रे—भी दिये गये हैं। इस के बाद एक परिशिष्ट है जिस में श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय कर्मविषयक साहित्य के कुछ समान तथा असमान घात उल्लिखित की हुई हैं। परिशिष्ट के बाद कोश दिया गया है जिस में मूल दूसरे कर्मग्रन्थके शब्द, अक्षरादि क्रमसे देकर उनकी छाया तथा हिंदी अर्थ दिया गया है। अंत में गाथायें हैं, जो मूल मात्र याद करने वालों के लिये या उसे देखने वालों के लिये विशेष उपयोगी हैं।

यदि इस ग्रन्थके अनुवाद में कोई त्रुटि रह गई हो तो विशेषदर्शी पाठकों से हम अनुरोध करते हैं कि वे कृपया उसकी सूचना दें ताकि दूसरी आवृत्ति में सशोधन किया जा सके

निष्कर्ष—

वीरपुर





## प्रस्तावना ।

---

### ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य ।

‘कमविपाक’ नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों का वर्णन किया गया है । उस में बन्ध योग्य, उदय-उदीरणा योग्य और सत्तायोग्य प्रकृतियों की जुड़ी जुड़ी सख्या भी दिलाई गई है । अब उन प्रकृतियों के बन्ध की उदय-उदीरणा की और सत्ताकी योग्यता को दिखाने की, आवश्यकता है । सो इसी आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से इस दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना हुई है ।

### विषय-वर्णन-शैली ।

ससारी जीव गिनती में अनन्त हैं । इसलिए उनमें से एक एक व्यक्ति का निर्देश करके उन सूत्र की बन्धादि सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाना असम्भव है । इसके अतिरिक्त

एक व्यक्ति में वृत्तों की सम्बन्धिता योग्यता भी सदा एक ही नहीं रहती। क्योंकि परिणाम व प्रिचार के बदलते रहने के कारण व धादि विषयक योग्यता भी प्रतिसमय बदला करती है। अतएव आरम्भशा शास्त्रकारों ने देहधारी जीवों के १४ भ्रम किये हैं। यह धर्मीकरण, उनकी आभ्यतर शुद्धि की उत्कांति-अपत्ताति के आधार पर किया गया है। इसी प्रमाणरण को शास्त्रीय परिभाषा में गुणस्थान क्रम कहते हैं। गुणस्थान का यह क्रम, ऐसा है कि जिसके १४ विभागों में सभी देहधारी जीवों का समावेश हो जाता है जिससे कि जनत देहधारियों की वृत्तों की सम्बन्धिता योग्यता को १४ विभागों के द्वारा बतलाना सहज हो जाता है और एक जीव व्यक्ति की योग्यता—को प्रतिसमय बदला करती है—उसका भा प्रदर्शन किसी न किसी विभाग के द्वारा किया जा सकता है। सतारी जीवों की आ तरिक शुद्धि के तरतम भावकी पूरी वैज्ञानिक जाँच करके गुणस्थान क्रम की घटना की गई है। इसेस यह बतलाना या समझना सहज हो गया है कि अमुक प्रकार की आ तरिक शुद्धि या शुद्धिवाला जीव, इतनी ही प्रकृतिया क व ध का, उदय उदी रणा का और सत्ता का अधिकारी हो सकता है। इस क्रम प्रथम में उक्त गुणस्थान क्रम के आधार से ही जीवों की वृत्तों की सम्बन्धिता योग्यता को बतलाया है। यही इस प्रथम की विषय वस्तु शर्ती है।

## विषय विभाग ।

इस प्रथम के विषय के मुख्य चार विभाग हैं (१) वृत्तों का अधिकार (२) उदयाधिकार, (३) उन्नीरणाधिकार और (४) सत्ताधिकार। वृत्तों के अधिकार में गुणस्थान क्रम को लेकर

प्रत्येक गुणस्थान वर्ती जीवों की व ध योग्यता को दिखाया है । इसी प्रकार उदयाधिकार में उनकी उदय सम्बन्धिनी योग्यता को, उदीरणाधिकार में उदीरणा-सम्बन्धिनी योग्यता को और सत्ताधिकार में सत्ता सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाया है । उक्त ४ अधिकारों की घटना, जिस वस्तु पर की गई है उस वस्तु—गुणस्थान श्रम—का नाम निर्देश भी श्रम के आरम्भ में ही कर दिया गया है । अतएव इस श्रम का विषय, पाच भागों में विभाजित हो गया है । सब से पहले, गुणस्थान श्रम का निर्देश और पौष्ट्य श्रमश पूर्वोक्त चार अधिकार ।

### ‘कर्मस्त्रय’ नाम रखने का अभिप्राय ।

आध्यात्मिक विद्वानों की दृष्टि, सभी प्रवृत्तियों में आत्मा की ओर रहती है । वे, कर्म कुट्टु भी पर उस समय अपने सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित किए होते हैं कि जिससे उन के आध्यात्मिक महत्वाभिलाष पर जगत् के आस्वयण का कुट्टु भी असर नहीं होता । उन लोगों का अटल विश्वास होता है कि ठोकरोंक लक्षित दिशा की ओर जो जहाज चलता है वह, बहुत कर विप्लवाध्याओं का शिकार नहीं होता । यह विश्वास कर्मश्रम के रचयिता आचार्य में भी था । इस, से उन्होंने ने गद्य रचना विषयक प्रवृत्ति के समय भी महान् आदर्श को अपनी नजर के सामने रखना चाहा । श्रमकार की दृष्टि में आदर्श थे भगवान् महावीर । भगवान् महावीर के जिस कर्मक्षय रूप असाधारण गुण पर श्रमकार मुग्ध हुए थे उस गुण को उन्होंने अपनी रूति द्वारा दर्शाना चाहा । इस लिए प्रस्तुत श्रम की रचना उन्होंने अपने आदर्श भगवान् महावीर की स्तुति के ग्रहान से की है । इस श्रम में मुख्य

यणन कम के व धादिका है, पर यह किता गया है स्तुति के घटान स । अतएव, प्रस्तुत प्रथ का अधानुरूप नाम 'कर्मस्तथ' रखा गया है ।

### ग्रन्थ-रचना का आधार ।

इस प्रथ की रचना 'प्राचीन कर्मस्तथ नामक दूसरे कर्म प्रथ क आधार पर हुई है । उसका और इस का विषय एक ही है । भद इतना ही है कि इस का परिमाण प्राचीन कर्मप्रथ से अल्प है । प्राचीनमें ४५ गाथाएँ हैं पर इसमें ३४ । जो बात प्राचीन में कुछ विस्तार से कहा है उसे इसमें परिमित शब्दों व द्वारा कह दिया है । यद्यपि व्यवहार में प्राचीन कर्मप्रथ का नाम 'कर्मस्तथ' है, पर उसका आरम्भ वीं गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम 'बोधोदयसत्य-युक्तस्तथ' है । यथा —

नमिउण जिणवरिदे तिहुपणवरणाणदसणपईय ।

बधुदयसनजु<sup>ण</sup> बोच्छामि यय निसामेह ॥१॥

प्राचीन के आधार से पताये गये इस कर्मप्रथ का 'कर्मस्तथ' नाम कर्ता ने इस प्रथ के किसी भाग में अलिखित नहीं किया है, तथापि इसका 'कर्मस्तथ' नाम होने में कोई संदेह नहीं है । क्योंकि इसी प्रथ के कर्ता थीं देवेन्द्रसुरि न अपने रचे तासरे कर्मप्रथ के अन्त में 'नेय कर्मस्थय सोड' इस अश से उस नाम का कथन कर ही दिया है ।

'स्तथ' शब्द के पूव में 'बोधोदयसत्त्व' या 'कर्म' कोई भी

शब्द रखा जाय, मतलब एक ही है। परन्तु इस जगह इसकी चर्चा, केवल इसीलिए की गई है कि प्राचीन दूसरे कर्मग्रन्थ के और गोम्मटसार के दूसरे प्रकरण के नाम में कुछ भी फरक नहीं है। यह नाम की एकता, श्वेतावर-दिगंबर आचार्यों के ग्रन्थ रचना विषयक पारस्परिक अनुकरण का पूरा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाम सवथा समाप्त होने पर भी गोम्मटसार में ता 'स्तव' शब्द की व्याख्या विलकुल विलक्षण है, पर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ में तथा उसकी टीका में 'स्तव' शब्द के उस विलक्षण अर्थ की कुछ भी सूचना नहीं है। इस से यह जान पड़ता है कि यदि गोम्मटसार के बंधोदयसप्त-युक्त नाम का आश्रय लेकर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ का वह नाम रखा गया होता तो उसका विलक्षण अर्थ भी इस में स्थान पाता। इससे यह कहना पड़ता है कि प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना, गोम्मटसार से पूर्व हुई होगी। गोम्मटसार की रचना का समय, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी घतलाया जाता है। प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का समय तथा उसके कर्ता का नाम आदि ज्ञात नहीं। परन्तु उसकी टीका करने वाले श्री गोविन्दाचार्य हैं जो श्री देवनाग के शिष्य थे। श्री गोविन्दाचार्य का समय भी सदेह की तह में छिपा है पर उनकी बनाई हुई टीका की प्रति-जो वि० स० १२८८ में ताडपत्र पर लिखी हुई है-मिलती है। इस से यह निश्चित है कि उन का समय, वि० स० १०८८ से पहले होना चाहिए। यदि अनुमान से टीकाकार का समय १२ वीं शताब्दी माना जाय तो भी यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं कि मूल द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना उससे सौ-दोसौ वर्ष पहले

ही होना चाहिये । इसमें यह हो सफता है कि कदाचित् उस द्वितीय कर्मग्रन्थ का ही नाम गोम्मटसार में लिखा गया हो और स्वतंत्रता दिखाने के लिए 'स्तव' शब्द को व्याख्या मिलकुल बदल दी गई है । अस्तु, इस विषय में कुछ भी नाश्रुत कहना माहस है । यह अनुमान मूर्च्छित, घतमान लखनों का शैली का अनुकरण मात्र है । इस नवान द्वितीय कर्मग्रन्थ के प्रणेता भादयेन्द्रसूरि का समय आदि पहल कर्मग्रन्थ का प्रस्तावना से जान लेना ।

## गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का साङ्केतिक अर्थ

इस कर्मग्रन्थ में गुणस्थान को लेकर चर्च उदय, उदाहरण और सत्ता का विचार किया है जैसे ही गोम्मटसार में भी किया है । इस कर्मग्रन्थ का नाम तो 'कर्मस्तव' है पर गोम्मटसार के उक्त प्रकरण का नाम 'य धोदयसत्त्व-युक्त-स्तव' जा 'य धुदयसत्त्व-युक्त आघादेसे थव घाट्ट' इस कथन से सिद्ध है ( गो कर्म गा ८७ ) । दोनों नामों में कोई विशेष अंतर नहीं है । क्योंकि कर्मस्तव में जो 'कर्म' शब्द है उसी की जगह 'य धोदयसत्त्वयुक्त' शब्द रखा गया है । परन्तु 'स्तव' शब्द दोनों नामों में समान होने पर भी, उसके प्रथम मिलकुल भिन्नता है । 'कर्मस्तव' में 'स्तव' शब्द का मतलब स्तुति से है जो सबत्र प्रसिद्ध ही है पर गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का स्तुति अर्थ न करके सास साङ्केतिक अर्थ किया गया है । इसी प्रकार उसमें 'स्तुति' शब्द का भी पारिभाषिक अर्थ किया है जो और कहीं दृष्टि-गोचर नहीं होता । जैसे —

सयलगेनङ्गेनकगद्वियार सत्रित्थर ससखेय ।  
वग्गणसत्थ यययुद्दम्मरुढा होइ शियमेण ॥

( गो कर्म गा ८८ )

अर्थात् किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तोत्र' कहा जाता है । एक अंग का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तुति' और एक अंग के किसी अधिभार का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र 'धर्मकथा' कहा जाता है ।

इस प्रकार विषय और नामकरण दोनों तुल्यप्राय हाने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदाय-भेद तथा ग्रन्थ रचना सम्बन्धी देश-काल के भेद का परिणाम जान पड़ता है ।

## गुणस्थान का सक्षिप्त सामान्य-स्वरूप ।

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञान पूर्ण होती है । यह अवस्था सब से प्रथम होने के कारण निरृष्ट है । उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र्य आदि गुणों के विकास की उदालत निकलता है, और धीरे धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णकला—अन्तिम हृद—को पहुँच जाता है । पहली निरृष्ट अवस्था से निकल कर, विकास की आखरी भूमि को पाना ही आत्मा का परम साध्य है । इस परमसाध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के



याद तीसरी पेशी क्रमिक अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणी को 'विकास क्रम' या 'उत्पातित मार्ग' कहते हैं। और जैनशास्त्रीय परिभाषा में उस 'गुणस्थान क्रम' कहते हैं। इस विकास क्रम के समय होने वाली आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप, १४ भागों में कर दिया गया है। य १४ भाग, गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध है। दिगम्बर साहित्य में 'गुणस्थान' अथ में संक्षेप, ओष सामा य और जीवसमास शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा—इस प्रकार पूर्व पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर पूर्ववर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक रहती है। विकास की 'युनाधिकता' का निष्पन्न आत्मिक स्थिरता की 'युनाधिकता' पर अवलम्बित है। स्थिरता, समाधि, अतदृष्टि, स्वभाव रक्षण, स्योन्मुखता—इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र शक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शन शक्ति का जितना अधिक विकास, जितना अधिक निर्मलता उतना ही अधिक आविर्भाव सट्टिश्यास, सदृष्टि, सद्भक्ति, सत्संघा या सत्याग्रह का समभित्ति। दर्शन-शक्ति के विकास के बाद चारित्र शक्ति के विकास का नम्बर आता है। जितना जितना चारित्र शक्ति का अधिक विकास उतना उतना अधिक आविर्भाव समा, सतोष, गाम्भीर्य इन्द्रिय जय आदि चारित्र गुणों का होता है। जैसे जैसे दर्शन-शक्ति व चारित्र शक्ति की विशुद्धि बढ़ती जाती है तैसे तैसे स्थिरता की मात्रा भी अधिक अधिक होती जाती है। दर्शन व चारित्र शक्ति का विशुद्धि का बढ़ना घटना, उन शक्तियों के प्रति

बन्धक (रोकनेवाले) मस्कारों की न्यूनता-अधिकता या मन्दता-तीव्रता पर अवलम्बित है। प्रथम तीन गुणस्थानों में दर्शन शक्ति व चारित्र्य शक्ति का विकास इतक नही होता कि उनमें उन शक्तियों के प्रतिबन्धक मस्कारों की अविद्यता या तीव्रता है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में वे ही प्रतिबन्धक मस्कार कम (मन्द) हो जाते हैं इसमें उन गुणस्थानों में शक्तियों का विकास आरम्भ हो जाता है।

इन् प्रतिबन्धक (कषाय) मस्कारों के स्थूल दृष्टि से ४ विभाग किये हैं। ये विभाग उन क्वापयिक मस्कारों की विपाक शक्ति के तरतम भाव पर आधारित हैं। उनमें से पहला विभाग—जो दर्शन-शक्ति का प्रतिबन्धक है—उसे दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धों कहते हैं। शेष तीन विभाग चारित्र्य शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। उनको यथाक्रम अप्रत्याख्यानाघरण, प्रत्याख्यानाघरण और सज्वलन कहते हैं।

प्रथम विभाग की तीव्रता, न्यूनाधिक प्रमाण में तीन गुणस्थानों (भूमिकाओं) तक रहती है। इस से पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन शक्ति के आदिर्भाव का सम्भव नहीं होता। कषाय के उक्त प्रथम विभाग की अल्पता, मन्दता या अभाव होते ही दर्शन शक्ति व्यक्त होती है। इसी समय आत्मा की दृष्टि खुल जाती है। दृष्टि के इस उन्मेष को विवेक स्थापति, भेदज्ञान, प्रकृति पुरुषान्यता-साक्षात्कार और ब्रह्म ज्ञान भी कहते हैं।

इसी शुद्ध दृष्टि से आत्मा जड-चेतन का भेद, असदिग्ध रूप से जान लेता है। यह उसके विकास-क्रम की चौथी भूमिका है। इसी भूमिका से वह अन्तर्दृष्टि बन जाता है, और आत्म मन्दिर में वर्तमान तात्त्विक परमात्म स्वरूप को देखता है। पहले की तीन भूमिकाओं में दर्शनमोह और अनन्तानु

काजी नाम व कयाय सस्कारों की प्रयत्नता के कारण आत्मा  
 अपने परमात्म भाव को देख नहीं सकता। उस समय वह  
 परिहृष्ट होता है। दशनमोह आदि सस्कारों के वेग के  
 कारण उस नाम उसकी दृष्टि, इतनी अस्थिर व अचल बन  
 जाता है कि जिससे वह अपने में ही घतमान परमात्म स्वरूप  
 या इन्द्रत्व को देख नहीं सकता। इन्द्रत्व मोहर हो है  
 वस्तु है यह आयत्त रूप, इसलिये स्थिर व निर्मल दृष्टि  
 व ज्ञान ही उसका दशन किया जा सकता है। चौथी भूमि  
 का या शेष गुणस्थान को परमात्म भाव के या इन्द्रत्व के  
 दशन का द्वार बनना चाहिये। और उतनी हृद नव पहुँच  
 हुए आत्मा को अंतरात्मा कहना चाहिये। इसके विपरीत  
 गर्भ, भ्रम, भ्रमकाओं में घतनेके समय आत्मा को बहिरात्मा  
 कहना चाहिये। क्योंकि यह उस समय राहुरा वस्तुओं में  
 ही आत्माय ही प्रति स इधर उधर दौड़ लगाया जाता है।  
 चौथा भूमिका में दशनमोह तथा अनन्तानुबन्धी सस्कारों  
 का वेग भी नहीं रहता, पर शक्ति शक्ति के आयत्त मूल  
 सस्कारों का वेग अथर्व रहता है। उनमें में अन्वयात्म्य  
 शक्ति शक्ति का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं

विकास दबता तो नहीं पर उसकी शुद्धि या स्थिरता में अन्तर्गत इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार वायु के घेग के कारण, दिये की ज्योति की स्थिरता पर अधिकता में । आत्मा जब 'सज्जलन' नामके सस्कारों को दबाता है, तब उत्क्रान्तिपथ की सातवीं आदि भूमिकाओं को लॉचकर ग्यारहवीं बारहवीं भूमिका तक पहुँच जाता है । बारहवीं भूमिका में दर्शन शक्ति व चारित्र शक्ति के विपत्ती सस्कार सवधानपट्ट हो जाते हैं, जिनमें उन्नत दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं । तथापि उस अवस्था में शरीर का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता परिपूर्ण होने नहीं पाती । वह चौदहवीं भूमिका में सवधा पूरा बन जाता है और शरीर का वियोग होने के बाद वह स्थिरता, वह चारित्र शक्ति अपने यथार्थ रूपमें विकसित होकर सदा के लिये एकसा रहता है । इसी को मोक्ष कहते हैं । मोक्ष कहीं बाहर में नहीं आता । वह आत्मा की समग्र शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है—

मोक्षस्य न हि घासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च ।

अज्ञान हृदयप्रथिनाशो मोक्ष इति स्मृत ॥

( शिवगीता-१३ ३२ )

यह विकास की पराकाष्ठा, यह परमात्म भाव का अभेद, यह चौथी भूमिका (गुणस्थान) में देखे हुये ईश्वरत्व का तादात्म्य, यह वदान्तियों का ब्रह्म भाव, यह जीव का शिव होना, और यही उत्क्रान्ति मार्ग का अन्तिम साध्य । इसी साध्य तक पहुँचने के लिये आत्मा को विरोधी सस्कारों के साथ लड़ते भगडते, उन्हें दबाते, उत्क्रान्ति मार्ग की जिन जिन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, उन भूमिकाओं के क्रम को ही 'गुणस्थान क्रम' समझना चाहिये । यह तो हुआ गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप । उन सब का विशेष स्वरूप योद्धे बहुत विस्तार की साथ इसी कर्मग्रन्थ की दूसरी गाथा की व्याख्या में लिख दिया गया है ।

निवेदक—वीर,



## दूसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची ।



विषय	पृष्ठ	गाथा
मंगलाचरण	१	, १
गुणस्थानों के नाम	३	, २
गुणस्थान का सामान्य स्वरूप	४	, "
मिथ्यादृष्टिगुणस्थान का स्वरूप	५	, "
भासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान का स्वरूप	६	, "
सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान का स्वरूप	१३	, "
अविरतसम्यग्दर्शिगुणस्थान का स्वरूप	१२	, "
देशविरतगुणस्थान का स्वरूप	१४	, "
प्रमत्तक्षयतगुणस्थान का स्वरूप	१५	, "
अप्रमत्तक्षयतगुणस्थान का स्वरूप	१५	, "
निवृत्तिगुणस्थान का स्वरूप	१६	, "
अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थानका स्वरूप	२०	, "
सूक्ष्मसपरायगुणस्थान का स्वरूप	२०	, "
उपशांतकषायघातिरागद्वन्द्वस्यगुण स्थानका स्वरूप	२२	, "
क्षीणकषायघातिरागद्वन्द्वस्यगुणस्थान का स्वरूप	२६	, "
सयोगिकेवलिगुणस्थान का स्वरूप	२८	, "
अयोगिकेवलिगुणस्थान का स्वरूप	२६	, "



विषय	पृष्ठ	गाथा
सूक्ष्मसम्पराय में उदय	६१	, १८-१९
उपशांतमोह में उदय	६२	, १९
क्षीणमोह और सयोगिकेपत्नी में उदय	६५	, २०
अयोगिकेपत्नी में उदय	६६	, २२-२३
उदय-यत्र	७०	

### उद्धारणाधिकार-३

उदय में उद्धारणा की विशेषता	७१	२३-२४
उद्धारणा-यत्र	७४	

### सत्ताधिकार-४

सत्ता का लक्षण और पहले ग्यारह गुणस्थानों में प्रकृति सत्ता	७५	, २५
अपूर्वकरण आदि ४ और सम्यक्त्व आदि ४ गुणस्थानों में मतांतर से सत्ता	७८	, २६
क्षपत्रधरणे की श्रेयता में सम्यक्त्व गुणस्थान आदि में सत्ता	७९	, २७
अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग आदि में सत्ता	८०	, २८-२९
सूक्ष्मसंपराय और क्षीणमोह की सत्ता	८१	, ३०
सयोगी की सत्ता	८२	, ३१
अयोगी की सत्ता	८३	, ३१ से ३३
मतांतरसे अयोगीके चरम समयमें सत्ता	८५	, ३३
सत्ता यत्र	८७	
उत्तर प्रकृतियों का घघ उदय, उद्धारणा और सत्ता सम्बन्धी यत्र	८८	





# शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	प०	अशुद्धि	शुद्धि
१	१	कमाइ	कम्माइ
२	६	अयाधा	वाधा
२	१६	रौंच	रौंच
३	५	सभ्रमण	सक्रमणकरण
३	२१	मिथ्यात्पाम०	मिथ्यात्पसा०
३	२०	निवृत्त्यनिवृत्ति	निवृत्त्यनिवृत्ति
४	११	विशेष को	विशेषों को
"	"	मिन	मिन मिन
४	१७	अशुद्धि तथा अशुद्धिसे।	अशुद्धिवड जाती है यद्यपि शुद्धि तथा अशुद्धि से
६	८	मिथ्यात्व	मिथ्यात्परी
७	६	सहते	सहते सहते
७	१०	रेशम की	रौंस की
७	२०	प्रथि की	प्राथि को
८	७	अर्थात्	अर्थात्
"	१३	अन्त करणकी क्रिया	अन्तरकरणकी
"	१४	शुद्ध	क्रिया शुरू
"	१४	अन्त करण की	अन्तरकरण की
"	२०	"	"
६	७	जा	जो
१०	६	जीव को	जीव को
१४	६	प्रायिक	प्रायिक
१५	२३		।

पृ०	प०	अशुद्धि	शुद्धि
१६	२६	अध्यवसायों का	अध्यवसायों का और दूसरा वर्ग उत्कृष्ट अध्यवसायों का
१३	१५	भिन्न ही होते हैं,	भिन्न ही होते हैं तथा प्रथम समय के जघन्य अध्यवसायों में प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनंतगुण विशुद्ध
१७	१७	समझने चाहिए	समझने चाहिए और प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से तत्समयक उत्कृष्ट अध्यवसाय अनंत गुण विशुद्ध
१८	१६	पूव	पूर्व
२२	१०	सिधा	सिधा
३०	१६	तीसरे	०
३२	१३	स्थाभाषिक	स्थाभाषिक
३३	५	द्यपि	यद्यपि
३६	२५	४	५
३८	१७	दु खर	दु स्वर
"	२५	बाघ	बीघ
३६	"	पमते	पमत्ते
४६	१	शेष	शेष २२

पृ०	प०	अशुद्धि	शुद्धि
४७	१०	५६	५८
४६	१७	कारण	कारणों
५१	१	ओ ३ म	ॐ
५३	१२	नसाशितिदेशे	ससाशीतिदेशे
"	१५	एकाशिति	एकाशीति
५५	६	शुण्स्थान	शुण्स्थान में
५६	५	क	के
५६	६	सम्यक्त्व	सासादनसम्यक्त्व
"	१६	कर्म०	११७ कर्म०
"	१७	शेष	शेष १११
"	२७	उदय चतुरिन्द्रिय पर्यंत	उदय चतुरिन्द्रियों को होता है परन्तु एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यंत
६२	७	—	अर्थ—
"	१८	१८	॥१८॥
६५	५	अतएव बारहवें	बारहवें
६६	२०	अगुरु०	अगुरु०
७६	१६	लोहिनामतकर्म	लोहितनामकर्म
७६	६	सम्यक्त्वी	सम्यक्त्वी
८१	२		
८१	१६	चरिमभेगसओ	चरिमभेगसओ
८०	१४	आनुपूर्वी	आनुपूर्वी
८८	१३	एक	एक





कर्मस्तवनामक दूसरा कर्मग्रन्थ ।

## बन्धाधिकार ।

तद् शुण्णिमो वीरजिण्ण जह् गुण्णठाण्णेषु सयलकमाड ।  
बन्धुद्वयोदीरणयासत्तापत्ताणि स्ववियाणि ॥ १ ॥

(तथा स्तुमो वीरजिन यथा गुणस्थानेषु सकलकर्माणि ।  
बन्धोदयोदीरणसत्ताप्राप्तानि क्षपितानि ॥ १ ॥)

अथ—गुणस्थानों में बन्धको, उदय को, उदीरणा को और सत्ता को प्राप्त हुये सभी कर्मों का क्षय जिस प्रकार भगवान् वीर ने किया, उसी प्रकार मैं उस परमात्मा को स्तुति हम करते हैं ।

भावार्थ—असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन ही स्तुति कहलाता है । सकल कर्मों का नाश यह भगवान् का असाधारण और यथाथ गुण है, इसमें उस गुण का कथन करना यही स्तुति है ।

मिथ्यात्वआदि निमित्तों से ज्ञानावग्णुआदि रूप में परिणत होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध पानी का समान मिलजाना, उसे 'बन्ध' कहते हैं ।

उदय काल आने पर कर्मों के शुभाशुभ फल का भागना, "उदय" कहलाता है।

[अथाधा काल व्यतीत हो चुकने पर जिस समय कर्मके फल का अनुभव होता है, उस समय को "उदयकाल" समझना चाहिये।

बंधे हुये कर्म से जितने समय तक आत्मा को अथाधा नहीं होती-अर्थात् शुभाशुभ-फल का घेदन नहीं होता उतने समय को 'अथाधा काल समझना चाहिये।

सभी कर्मों का अथाधा काल अपनी अपनी स्थिति के अनुसार जुदा जुदा होता है। कभी तो वह अथाधा काल स्वाभाविक क्रमसे ही व्यतीत होता है, और कभी अपघर्तना करण से जल्द पूरा होजाता है।

जिस धीर्यविशेष से पहले बंधे हुये कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं उसको, 'अपघर्तना करण' समझना चाहिये।]

अथाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय में आने वाले होते हैं उनको प्रयत्नविशेष से रोक कर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उसे 'उद्धारणा' कहते हैं।

बंधे हुये कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़ कर आत्मा के साथ लगा रहना 'सत्ता' कहलाती है।

[उद्ध-कर्म, निर्जरा से और सम्मरण से अपने स्वरूप को छाप देता है।

बंधे हुये कर्मका तप ध्यान आदि साधनों के द्वारा आत्मा से अलग हो जाना “निर्जरा” कहलाती है ।

जिस वीर्य विशेष से कर्म, एक स्वरूप को छोड़ दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उस वीर्य विशेष का नाम “सक्रमण” है । इस तरह एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीयकर्मप्रकृतिरूप बन जाना भी सक्रमण कहाता है । जैसे मतिज्ञानावरणीय कर्म का धृतज्ञानावरणीय कर्मरूपमें बदल जाना या धृतज्ञानावरणीय कर्म का मतिज्ञानावरणीय कर्म रूप में बदल जाना । क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म का भेद होने से आपस में सजातीय हैं । ]

प्रत्येक गुणस्थान में जितनी कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों का उद्दय हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों की उद्दीरणा की जा सकती है और जितनी कर्म प्रकृतियों सत्तागत हो सकती हैं, उनका क्रमशः वर्णन करना, यही ग्रन्थकार का उद्देश्य है । इस उद्देश्य को ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर की स्तुति के वहाने से इस ग्रन्थ में पूरा किया है ॥ २ ॥

पहले गुण स्थानों को दिखाते हैं

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।

नियट्ठि अनियट्ठि सुट्ठमु वमम रीण सजोगि अजोगिगुणा ॥२॥

(मिथ्यात्वासस्वादनमिश्रमविरतदेश पमत्तापमत्तम् ।

निवृत्पनिवृत्ति स्रूमोपशम क्षीणसयोग्यऽयोगिगुणा ॥२॥)



अथ—गुणस्थान के (४) (चौदह) भेद हैं। जैसे—(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, (२) माभ्यादन (सासादन) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (५) देशविरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसयत गुणस्थान, (७) अप्रमत्तसयत गुणस्थान (८) निवृत्ति (अपूर्वकर्म), गुणस्थान (९) अनिवृत्तियादर सम्पराय गुणस्थान (१०) सुदमसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशात कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान (१२) क्षौण्णकषाय वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान (१३) सयामि केवलि गुणस्थान और (१४) अयोगि केवलि गुणस्थान।

भावार्थ—जीव के स्वरूपविशेष को (भिन्न स्वरूप को) गुणस्थान कहते हैं। ये स्वरूपविशेष ज्ञान दर्शन चारित्र आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम भाव से होते हैं। जिस वस्तु अपना आवरणभूत कर्म कम होना है उस वस्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आदि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट होती है। और जिस वस्तु आवरणभूत कर्म की अधिकता हो जाती है, उस वस्तु उह गुणों की शुद्धि कम हो जाती है, और अशुद्धि तथा अशुद्धि से होनेवाले जीव के स्वरूप विशेष अस्वरूप प्रकार के होते हैं, क्योंकि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप चौदह गुणस्थानों के रूप में कर दिया गया है। चौदहों गुणस्थान मोक्षरूप महत्त्व को प्राप्त करने के लिये भीष्टियों के समान हैं। पूर-पूर गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर २ गुणस्थान में ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है और अशुद्धि घटती जाता है। अतएव आगे आगे के गुणस्थानों में अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियाँ अधिक पायी जाती हैं, और शुभ प्रकृतियों का कर्म भी कम हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय में जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा या प्रतिपत्ति) मिथ्या (उलटी) हो जाती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहाता है—जैसे धतूरे के बीज को खानेवाला मनुष्य सफेद-बीज को भी पीला देखता और मानता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वो जीव भी जिसमें देव के लक्षण नहीं हैं उसको देव मानता है, तथा जिस में गुरु के लक्षण नहीं उसपर गुरु बुद्धि रखता है और जो धर्मों के लक्षणों से रहित है उसे धर्म समझता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीवका स्वरूप-विशेष ही “मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान” कहाना है।

प्रश्न—मिथ्यात्वो जीव के स्वरूप विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं? क्योंकि जब उसकी दृष्टि मिथ्या (अर्थ-वार्थ) है तब उसका स्वरूप विशेष भी विरुद्ध—अर्थात् दो पात्मक हो जाता है।

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वो की दृष्टि सर्वथा यथार्थ नहीं होती, तथापि वह किसी अशुभ यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वो जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूपसे जानता तथा मानता है। इस लिये उसके स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहा है। जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती, किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती ही है जिससे कि दिनरात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टि-गुण सर्वथा आवृत नहीं होता। अतएव किसी न किसी अशुभ में मिथ्यात्वो की दृष्टि भी यथार्थ होती है।

प्रश्न—जब मिथ्यात्वों की दृष्टि किसी भी अश में यथार्थ हो सकती है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या बाधा है ?

उत्तर—एक अश मात्र की यथार्थ प्रतीति होने से जीव सम्यग्दृष्टि नहीं कहाता, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि जो जीव सर्वज्ञ के कहे हुये वाग्द अज्ञों पर भ्रमा रखता है परन्तु उन अज्ञों के किसी भी एक अक्षर पर विश्वास नहीं करता, यह भी मिथ्यादृष्टि ही है। जैसे जमानि। मिथ्यात्व की अपेक्षा सम्यक्त्व जीव में विशेषता यही है कि सर्वज्ञ के कथन के ऊपर सम्पत्की का विश्वास अखण्डित रहता है, और मिथ्यात्वों का नहीं ॥ १ ॥

सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वी है, परन्तु अनन्तानुबन्धिकाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है वह जीव जब तक मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक—अर्थात् जघन्य एक समय और उदृष्ट छु आचलिका पर्यन्त सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है और उम जीव का स्वरूप—विशेष 'सासादा सम्यग्दृष्टि—गुण स्थान' कहाता है ॥

इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का मुखात् मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि जिस प्रकार खीर खा कर उस का घमन करन वाले मनुष्य को खीर का बिलक्षण स्वाद अनुभव में आता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर झुक हुये उस जीव को भी, कुछ काल के लिये सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है। अत एव इस गुण स्थान को "सासादान सम्यग्दृष्टिगुणस्थान भी कहते हैं ॥

प्रसंगवश इसी जगह औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का क्रम लिख दिया जाता है ॥

जीव अनादि काल से ससार में घूम रहा है, और तरह तरह के दु खों को पाता है। जिस प्रकार परंत की नदी का पत्थर इधर उधर टकरा कर गोल और चौकना बन जाता है, इसी प्रकार जीव भी अनेक दु ख सहते, कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि जिस के बल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्लोपमा-सख्यात भाग न्यून कोटा कोटा सागरोपम प्रमाण कर देता है। इसी परिणाम का नाम शास्त्र में यथाप्रवृत्ति करण है। यथाप्रवृत्ति करण से जीव रागद्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जो कि कफ, दृढ और गूढ रेश्मों की गाँठ के समान दुर्भेद है वहाँ तक आता है, परन्तु उस गाँठ को भेद नहीं सकता, इसी को ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कहते हैं। यथाप्रवृत्ति करण से अभव्य जीव भी ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकते हैं—अर्थात् कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति को पड़ा कर अन्त कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकते हैं, परन्तु ये रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को तोड़ नहीं सकते। और मय जीव यथाप्रवृत्ति करण नामक परिणाम से भी विशेष शुद्ध—परिणाम को पा सकता है। तथा उस के द्वारा राग द्वेष की दृढतम ग्रन्थि को—अर्थात् राग द्वेष के अति दृढ-सस्कारों को छिन भिन्न कर सकता है। मय जीव जिस परिणाम से राग द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को लाघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में “अपूर्वकरण” कहते हैं। “अपूर्वकरण” नाम रखने का मतलब यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है, बार बार नहीं होता। अत एव यह परिणाम अपूर्वसा है। इसके विपरीत “यथाप्रवृत्ति”

औपशमिक सम्यक्त्व कहाता है। औपशमिक सम्यक्त्व उतने काल तक रहता है जितने काल तक के उदय योग्य दलिके आगे पीछे करलिये जाते हैं। पहले ही कटा जा चुका है कि अन्तमुहूर्त पर्यन्त घेदनाय दलिकों को आगे पीछे कर दिया जाता है इससे यह भी सिद्ध है कि औपशमिक सम्यक्त्व अतर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है। इस औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीवको पदार्थों की स्फुट या असदिग्ध प्रतीति होनी है जैसे कि जन्माद्य मनुष्य को नेत्रलाभ होने पर होनी है। तथा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होने ही मिथ्यात्व रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है जैसा कि किसी भी मारको अच्छी औपधि के सेवन से बीमारी के हटजाने पर अनुभव में आता है। इस औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशातादा तथा अंतरकरण काल कहते हैं। प्रथम स्थिति के चरम समय में अर्थात् उपशातादा के पूरे समय में, जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुँज करता है जो कि उपशातादा के पूरा हो जाने के बाद उदय में आने वाला है। जिस प्रकार कोद्रव धान्य (कोदो नामक धान्य) औपधि विशेष से साफ किया जाता है तब उसका एक भाग इतना शुद्ध हो जाता है जिससे कि खाने वाले को नशा नहीं होता कुछ भाग शुद्ध होता है परन्तु विलकुल शुद्ध नहीं होता, अर्द्ध शुद्ध सा रह जाता है। और कोद्रव का कुछ भाग तो अशुद्ध ही रह जाता है जिससे कि खाने वाले को नशा हो आता है। इसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत मिथ्या चमोहनाय कम के तीन पुँजों (भागों) में से एक पुँज तो इतना विशुद्ध हो जाता है, कि उस में सम्यक्त्वघातकर्म (सम्यक्त्वनाशकशक्ति) का अभाव हो जाता है। दूसरा पुँज आधाशुद्ध (शुद्धाशुद्ध) हो जाता

है। और तीसरा पुञ्ज तो अशुद्ध ही रह जाता है। उपशा-  
 ताद्धा पूर्ण ही जाने के बाद उक्त तीन पुँजों में से कोई एक  
 पुञ्ज जीव के परिणामानुसार उदय में आता है। यदि जीव  
 विशुद्धपरिणामी ही रहा तो शुद्धपुञ्ज उदयगत होता है।  
 शुद्धपुञ्ज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो होता नहीं  
 इससे उक्त समय जो सम्यक्त्व प्रकट होता है, वह चायोपश-  
 मिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम न तो विल्कुल  
 शुद्ध रहा और न विल्कुल अशुद्ध, किन्तु मिश्र ही रहा तो  
 अर्धविशुद्ध पुञ्जका उदय हो आता है। और यदि परिणाम  
 अशुद्ध ही हो गया तब तो अशुद्ध पुञ्ज उदयगत हो जाता है,  
 अशुद्ध पुञ्ज के उदयप्राप्त होने से जीव, फिर मिथ्यादृष्टि  
 बन जाता है। अतर्मुहूर्त्त प्रमाण उपशान्त अद्धा, जिसमें जीव  
 शान्त प्रशान्त, स्थिर और पूर्णात्त हो जाता है, उक्त का  
 जगन्मय एक समय या उत्कृष्ट छ (६) आवलिकायें जयवाकी  
 रह जाती हैं, तब किसी किसी औपशमिक सम्यक्त्वो जीव  
 को विघ्न आ पड़ता है अर्थात् उसकी शांति में भङ्ग पड़ता  
 है। क्योंकि उस समय अनन्तानुबन्धि कपाय का उदय हो  
 आता है। अनन्तानुबन्धि कपाय का उदय होते ही जीव  
 सम्यक्त्व परिणाम का त्याग कर मिथ्यात्व की ओर मुक्त  
 जाता है। और जब तक वह मिथ्यात्व को नहीं पाता तब  
 तक अर्थात् उपशान्त अद्धा के जगन्मय एक समय पर्यन्त अथ  
 वा उत्कृष्ट छ आवलिका पर्यन्त सामादन भाव का अनुभव  
 करता है। इसी से उस समय वह जीव सामादन सम्यग्दृष्टि  
 कहाता है। जिसको औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है,  
 वही सामादन सम्यग्दृष्टि हो सकती है, दूसरा नहीं ॥२॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि ( मिथ्र ) गुणस्थान—मिथ्या प्रमाण  
 नायक पूवाह तान पुजों में जे जे अद्द विशुद्ध पुज का उदय  
 हो आता है तब जैसे गुड में मिश्रित दही का स्वाद कुछ  
 अम्ल ( खट्टा ) और कुछ मधुर ( मीठा ) अर्थात् मिथ्र हाता  
 है । इस प्रकार जीवकी दृष्टि भी कुछ सम्यक् ( शुद्ध ) और  
 कुछ मिथ्या ( अशुद्ध ) अर्थात् मिथ्र हो जाती है । इसी से यह  
 ज्ञान सम्यग्मिथ्यादृष्टि ( मिथ्र दृष्टि ) कहाता है तथा उसका  
 स्वरूपविशेष सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ( मिथ्र गुणस्थान ) ।  
 इस गुण स्थान के समय बुद्धि में दुबलता आ आजाता है ।  
 जिससे जीव सबस के कहे हुए तर्कों पर न तो एकान्त रचि  
 करता है और न एकान्त अरुचि । किन्तु वह सपश प्रणत  
 तर्कों के विषय में इस प्रकार मध्यस्थ रहता है, जिस प्रकार  
 कि नालिकेर हीप निराली मनुष्य श्राद्धन ( भान ) आदि  
 अन के विषय में । जिस दृष्टि में प्रधानतया नरियल पैदा  
 होत है वहाँके अधिवासियों ने चावल-आदि अन नतो देखा  
 होता है और न सुना । इससे वे अदृष्ट और अधुत अन  
 को देख कर उसके विषय में रचि या घृणा नहीं करते । किन्तु  
 समभाव ही रहत है । इसी तरह सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव भी  
 सर्वश कथित मार्गपर प्रीति या अप्रीति न करके समभाव ही  
 रहत है । अधिशुद्ध पुजका उदय अतर्मुहत्त मात्र पयत  
 रहता है । इस के अनतर शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुज का  
 उदय हो आता है । अतएव तीसरे गुणस्थान की स्थिति,  
 मात्र अतर्मुहत्त प्रमाण मानी जाती है ॥३॥

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान—सावध व्यापारों को छोड़  
 देना अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जना उस  
 धैर्य कहत है । चारित्र और व्रत, विरति ही का नाम है ।

जो सम्यग्दृष्टि हो कर भी किसी भी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह जो व अप्रि रतसम्यग्दृष्टि, और उस का स्वरूपविशेष अप्रि रतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहता है अप्रि रत जो व सात प्रकार के होते ह । जैसे—

१—जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते ह वे सामान्यत सब लाग ।

२—जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं । वे तपस्वीविशेष ।

३—जो व्रतों को जानते नहीं, परन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालते नहीं, वे पार्श्वस्थ नामक साधुविशेष ।

४—जिनको व्रतोंका ज्ञान नहीं है, किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन प्रारंभ करते ह, वे अतीतार्थ मुनि ।

५—जिनको व्रतों का ज्ञान तो है, परन्तु जो व्रतों का स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते, वे श्रेणिक, कृष्ण आदि ।

६—जो व्रतों को जानते हुये भी स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु उनका पालन अवश्य करते हैं, वे अनुत्तरविमान शासिवेव ।

७—जो व्रतों को जानकर स्वीकार लेते ह, किन्तु पीछे से इन का पालन नहीं कर सकते, वे भविष्णुपालिक ।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्गृहण और सम्यक्पालन स ही व्रत सफल होते हैं । जिनको व्रतों का सम्यग्ज्ञान नहीं है, जो व्रतों को विधिपूर्वक गृहण नहीं करते और जो व्रतों का यथार्थ पालन नहीं करते,



वे सब घुणाक्षरन्ध्याय से प्रती को पालन में ले तथापि उम स फलका सम्भव नहीं है। उम मान प्रकार के अधिरतों में से पहले चार प्रकार के अधिरत—जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं। क्यों कि उनको प्रतीका यथाथ ज्ञान ही नहीं है। और पिछले तीन प्रकार के अधिरत जीव सम्यग्दृष्टि है। क्यों कि वे प्रती को यथाविधि ग्रहण तथा पालन नहीं कर सकते, तथापि उन्हें यथार्थ जानते हैं। अधिरतसम्यग्दृष्टि जीवों में भी कोई श्रीपशमिक सम्यक्त्वा होने में कोई सायोपशमिक सम्यक्त्वा होते हैं और कोई प्रायिक-सम्यक्त्वा होते हैं। अधिरत सम्यग्दृष्टि जीव प्रत-नियम को यथायत् जानते हुये भी स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते क्योंकि उनको अप्रत्याख्यानापरण कषाय का उदय रहता है और यह उदय धार्मिकों के ग्रहण तथा पालन का प्रतिषेधक (रोकने वाला) है॥४॥

देशधिरतगुणस्थान—प्रत्याख्यानापरण कषाय के उदय के कारण जो जीव, पाप जनक क्रियाओं से बिलकुल नहीं किन्तु देश (अश) से अलग हो सकते हैं वे देशधिरत या भायक कहलाते हैं। और उनका स्वरूप विशेष देश—

स पुत्र आदि को नहीं गोकना उसे " प्रतिध्वणा  
 नुमति ' कहते हैं। पुत्र आदि अपने सधन्धियों के पाप-कार्य  
 में प्रवृत्त होने पर, उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना-अर्थात्  
 नती पाप कर्मों को सुनना और सुन कर भी न उस की प्रश  
 सा करना, इसे " सत्सासानुमति " कहते हैं। जो आचक,  
 पापननरु आरभों में किसी भी प्रकार से योग नहीं देना के  
 उल सत्सासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब आचकों में  
 श्रेष्ठ है ॥५॥

प्रमत्तसयतगुणस्थान—जो जीव पापजनक व्यापारों  
 से विधिपूर्वक संयथा निवृत्त हो जाते हैं, वेही सयत (मुनि)  
 है। सयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तबतक  
 प्रमत्तसयत कहाते हैं, और उनका स्वरूपविशेष प्रमत्त  
 सयन गुणस्थान कहाना है। जो जीव सयत होते हैं, वे यहा  
 तक सावध कर्मों का त्याग करते हैं कि पूर्वाप्त सत्सासा  
 नुमति को भी नहीं सेवते। इतना त्याग कर सकने का कार  
 ण यह है कि, छोटे गुणस्थानमें लेकर आगे प्रत्याख्यानाचरण  
 कषाय का उन्मय रहता ही नहीं है ॥६॥

अप्रमत्तसयतगुणस्थान—जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय  
 विरथा-आदि प्रमादों को नहीं सेवते वे अप्रमत्त सयत हैं,  
 और उन का स्वरूप विशेष, जो ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि  
 तथा अशुद्धि के तरतम भावमें होता है, वह अप्रमत्तसयत  
 गुणस्थान है। प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि  
 में गिरता है इस लिये सातवें गुणस्थान से लेकर आगे  
 के सष गुणस्थानों में वर्तमान मुनि, अपने स्वरूप में अप्र  
 मत्त ही रहते हैं ॥७॥

निवृत्ति (अपूरण) गुणस्थान—जो इस गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं तथा जो प्राप्त कर रहे हैं और जो प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसाय स्थानों की ( परिणाम भेदों को ) सख्या, असख्यात लोकाकार्यों के प्रदेशों के परावर है। क्योंकि इस आठवें गुणस्थान का स्थिति अतर्मुहूर्त प्रमाण है और अतर्मुहूर्त के असख्यात समय होते हैं तबसे केवल प्रथम समयवर्ती त्रिकालिक ( तीनों कालके ) जीवों के अध्यवसाय भी असख्यात लोकाकार्यों के प्रदेशों के तुल्य हैं। इस प्रकार दूसरे, तीसरे आदि प्रत्येक समयवर्ती त्रिकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में असख्यात लोकाकार्यों के प्रदेशों के परावर ही है। असख्यात सख्या के असख्यात प्रकार हैं। इस लिये एक एक समयवर्ती त्रिकालिक जीवों के अध्यवसायों की सख्या और सब समयों में वर्तमान त्रिकालिक जीवों के अध्यवसायों की सख्या—ये दोनों सख्यायें सामान्यत एकरा अर्थात् असख्यात ही हैं। तथापि ये दोनों असख्यात सख्यायें परस्पर भिन्न हैं। यद्यपि इस आठवें गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती त्रिकालिक जीव अनन्त ही होते हैं, तथापि उनके अध्यवसाय असख्यात ही होते हैं। इसका कारण यह है कि समान समयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपसमें जुड़े जुड़े ( न्यूनाधिक शुद्धिगाल ) होते हैं, तथापि समसमयवर्ती बहुत जीवों के अध्यवसाय तुरन्त शुद्धिगाल होने से जुड़े जुड़े नहीं माने जाते। प्रत्येक समय के असख्यात अध्यवसायों में से जो अध्यवसाय, कम शुद्धिगाल होते हैं, व जघ य। तथा जो अध्यवसाय अ य सब अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धिगाल होते हैं, वे उत्कृष्ट कहते हैं। इस प्रकार एक यग जघ य अध्यवसायों का होता है। इन दोनों

के बीच में असख्यात वर्ग हैं, जिनके सब अध्यवसाय मध्यम कहाते हैं। प्रथम वर्गके जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्त गुण अधिक मानी जाती है। और बीच के सध वर्गों में से पूर्व पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर वर्ग के अध्यवसाय, विशेष शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार माना जाता है कि सम समयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से अनन्त भाग अधिक शुद्ध, असख्यात भाग अधिक-शुद्ध, सख्यात भाग अधिक शुद्ध सख्यात गुण अधिक शुद्ध, असख्यात गुण अधिक शुद्ध और अनन्त-गुण अधिक शुद्ध होते हैं। इस तरह की अधिक शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त भाग अधिक आदि छ प्रकारों को शास्त्र में 'पदस्थान' कहते हैं। प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं, और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समयके जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुण विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समयतक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायों से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न समझने चाहिये। तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर समयके जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुण विशुद्ध समझने चाहिये।

इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। जैसे—१ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुण धेणु, ४ गुणसक्रमण और अपूर्व स्थितिबन्ध।

१—जो कर्म-दलिक आगे उदय में आनेवाले हैं, उन्हें अपवर्तना करण के द्वारा अपने अपने उदय के नियत समयों से हटा द्वा-अर्थात् शाश्वत आदि कर्मों की उही स्थिति को

जैस राज्य को पाने की योग्यतामात्र से भी राजकुमार राजा कहाता है, वैसे ही आठवें गुणस्थान में वतमान जाव चारित्र माहतीय कम के उपशमन या क्षपण के योग्य होने रा उपशमक या क्षपक कहलाते हैं। क्यों कि चारित्र मोहनाय कम के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ नववें गुणस्थानक में हा होता है, आठवें गुणस्थान में तो उसके उपशमन या क्षपण ने प्रारम्भ की योग्यतामात्र होती है ॥ ८ ॥

**अनिवृत्तिपादर सपराय गुणस्थान**—इस गुणस्थान की स्थिति भी अतर्मुहूर्त्त प्रमाण ही है। एक अतर्मुहूर्त्त के जितने समय हाते हैं उतने ही अध्यवसाय स्थान, इस नववें गुणस्थानक में माने जाते हैं क्यों कि नववें गुणस्थानक में जा जाय सम-समयवर्ती होते हैं उन सब के अध्यवसाय एक मे अर्थात् तुल्य शुद्धिवाले होते हैं। जैसे प्रथम-समयवर्ती प्रकालिक अनन्तजीवों के भी अध्यवसाय समान ही होते हैं इस प्रकार दूसरे समय से लेकर नववें गुणस्थान के अतिम समय तक तुल्य समय में वर्त्तमान प्रकालिक जीवों के अध्यवसाय भी तुल्य ही होते हैं। त्रीं तुल्य अध्यवसायों को एक ही अध्यवसाय स्थान मान लिया जाता है। इस बात को समझने की सरल रीति यह भी है कि नववें गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही घग हो सकते हैं जितने कि उस गुणस्थान के समय हैं। एक एक वर्ग में चाहे प्रकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त व्यक्तियाँ शामिल हों, परन्तु प्रतिवर्ग अध्यवसाय स्थान एक ही माना जाता है। क्यों कि एक घग के सभी अध्यवसाय, शुद्धि में बराबर ही होते हैं, परन्तु प्रथम समयके अध्यवसाय स्थानसे-अर्थात् प्रथम वर्गीय अध्यवसायों से-दूसरे समय के अध्यवसाय-स्थान-अर्थात्

दूसरे धर्म के अध्यवसाय—अनन्त-गुण विशुद्ध होने हैं। इस प्रकार नववें गुणस्थान के अतिमसमय तक पूर्व २ समय के अध्यवसाय-स्थान से उत्तर-समय के अध्यवसाय स्थान को अनन्त गुण विशुद्ध समझना चाहिये। आठवें गुणस्थानक से नववें गुणस्थानक में यही विशुद्धता है कि आठवें गुणस्थानक में तो समान समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय, शुद्धि के तरतम भाव से असम्भ्यात चर्मा में विभाजित किये जा सकते हैं, परन्तु नववें गुणस्थान में सम समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का रमान शुद्धि के कारण एक ही धर्म हो सकता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होने जाते हैं, और कषाय की (मज्जेशकी) जिनगी ही कभी हुई, उतनी ही विशुद्धि जीव के परिणामों की बढ़ जाती है। आठवें गुणस्थान से नववें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नतायें आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

दसवें गुणस्थान की अपेक्षा नववें गुणस्थान में धादर (रूूल) सम्पराय (कषाय) उदय में आता है। तथा नववें गुणस्थान के सम-समय वर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती। इसी लिये इस गुणस्थान का "अनिवृत्तिवाद्दरसम्पराय" ऐसा सार्यक नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है।

नववें गुणस्थान की प्राप्ति करनेवाले जीव, दो प्रकार के होते हैं—एक उपशमक और दूसरे क्षपक। जो चारित्र्य मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं वे उपशमक और जो



अभाव में इष्ट के सिवा दूसरे अर्थ का भी बोध होने लगता है।]

“उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान” इस नाम में १ उपशान्तकषाय, २ वीतराग और ३ छद्मस्थ, ये तीन विशेषण हैं। जिनमें “छद्मस्थ” यह विशेषण स्वरूप विशेषण है; क्योंकि उस विशेषण के न होने पर भी शेष भाग से—अर्थात् उपशान्तकषाय वीतराग गुणस्थान इतने ही नाम से इष्ट अर्थ का ( ग्यारहवें गुणस्थान का ) बोध हो जाता है, और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। अतएव छद्मस्थ यह विशेषण अपने विशेष्य का स्वरूपमात्र जनाता है। उपशान्तकषाय और वीतराग ये दो, व्यावर्तक विशेषण हैं; क्योंकि उनके रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है, और उनके अभाव में इष्ट के सिवा अन्य अर्थ का भी बोध होता है। जैसे—उपशान्त कषाय इस विशेषण के अभाव में वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से इष्ट-अर्थ के ( ग्यारहवें गुणस्थानके ) सिवा बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्योंकि बारहवें गुणस्थान में भी जीव को छद्म ( ज्ञानावरण—आदि घाति कर्म ) तथा वीतरागत्व ( राग के उदय का अभाव ) होता है, परन्तु ‘उपशान्त कषाय’ इस विशेषण के ग्रहण करने में बारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि बारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते बल्कि क्षीण हो जाते हैं। इसी तरह वीतराग इस विशेषण के अभाव में ‘उपशान्तकषाय छद्मस्थ गुणस्थान’ इतने नाम से चतुर्थ, पञ्चम आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। क्योंकि चतुर्थ, पञ्चम आदि गुणस्थानों में भी जीवके अनतानुबन्धी कषाय उपशान्त हा



सकते हैं। परन्तु "वीतराग" इस विशेषण के रहने से चतुर्थ पञ्चम आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि उन गुणस्थानों में घटतमान जीव को राग के (माया तथा लोभ के) उदय का सद्भाव ही होता है, अतएव वीतरागत्व असम्भव है।

इस ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय प्रमाण और उत्कृष्ट अर्तमुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है।

इस गुणस्थान में घटतमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं होता; क्योंकि जो जीव दापक धैर्य को करता है वही आगे के गुणस्थानों को पा सकता है। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान में घटतमान जीव तो नियम से उपशम धैर्य करनेवाला ही होता है, अतएव वह जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अग्रग्य ही गिरता है। गुणस्थान का समय पूरा न हो जाने पर भी जो जीव भय के (आयु के) क्षय से गिरता है वह अनुत्तर विमान में देव रूप से उत्पन्न होता है और चौथे ही गुणस्थान को प्राप्त करता है। क्योंकि उस स्थान में चौथे के सिवा अन्य गुणस्थानों का सम्भव नहीं है। चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उस गुणस्थान में जितनी कर्म प्रवृत्तियों के बन्ध का उदय का तथा उद्दीरणा का सम्भव है उन सब कर्म प्रवृत्तियों के बन्ध को, उदय को और उद्दीरणा को एक साथ शुरू कर देता है। परन्तु आयु के रहते हुए भी गुणस्थान का समय पूरा हो जाने से जो जीव गिरता है वह आरोग्य-श्रम के अनुसार, पतन के समय, गुणस्थानों को प्राप्त करता है—अर्थात् उसने आरोग्य के समय जिस जिस गुणस्थान को पाकर जित जित कर्म प्रवृत्तियों के बन्ध का, उदय का और उद्दीरणा का निष्क्रेद किया हुआ होता है, गिरने के

घटत भी उस उस गुणस्थान को पा कर वह जीव उन उन कम प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को शुरू कर देता है। अर्थात् क्षय से— अर्थात् गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरनेवाला कोई जीव छठे गुणस्थान तक आता है, कोई पाँचवें गुणस्थान में, कोई चौथे गुणस्थान में और कोई दूसरे गुणस्थान में भी आता है।

यह कहा जा चुका है कि उपशमश्रेणिवारा जीव श्याम्हर्षे गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है। इसका कारण यह है कि उसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति क्षपकश्रेणि के बिना नहीं होती। एक जन्म में दो से अधिक बार उपशमश्रेणि नहीं की जा सकती और क्षपकश्रेणि तो एक बार ही होती है। जिसने एक बार उपशमश्रेणि की है वह उस जन्म में क्षपकश्रेणि कर मोक्ष को पा सकता है। परंतु जो दो बार उपशमश्रेणि कर चुका है वह उस जन्म में क्षपकश्रेणि कर नहीं सकता। यह तो हुआ "कर्मप्रथ" का अभिप्राय। परन्तु सिद्धांत का अभिप्राय ऐसा है कि जीव एक जन्म में एक बार ही श्रेणि कर सकता है। अतएव जिसने एक बार उपशमश्रेणि की है वह फिर उसी जन्म में क्षपकश्रेणि नहीं कर सकता।

उपशमश्रेणि के आरम्भ का क्रम सक्षिप में इस प्रकार है— चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुगन्धि कथाओं का उपशम करता है और पीछे दर्शनमोहनीय त्रिक का उपशम करता है। इस के बाद वह जीव छठे तथा सातवें गुणस्थान में भ्रूणों वफे आता और जाता है। पीछे

आठवें गुणस्थान में होकर नववें गुणस्थान का प्राप्त करता है और नववें गुणस्थान में चारित्रमोहायि कर्म का उपशान्त शुरु करता है। सब से पहले यह नपुमकषेद की उपशान्त करना है। इस के बाद स्त्रीविद् की उपशान्त करता है। इसके अनन्तर क्रमसे हास्यादि-पटक की, पुरुषवेद की, अप्रत्याख्या नावरण प्रत्याख्यानारण्य प्राध युगल की, सज्यलन प्राध की अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-मात-युगल को सज्यलन मान की, अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण-माया युगल की सज्यलन माया को और अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ युगल को नववें गुणस्थान के अन्त तक में उपशान्त करता है। तथा यह मज्जमन लोभ को दसवें गुणस्थान में उपशान्त करता है ॥११॥

### क्षीणकषायतीतरागछद्मस्थगुणस्थान-

जिन्होंने मोहायि कर्म का संध्या क्षय किया है, परन्तु शेष छद्म (घाति कर्म) अभी विद्यमान है वे क्षीण कषाय-तीतराग-छद्मस्थ कहते हैं और उनका स्वरूप विशेष क्षीणकषायतीतरागछद्मस्थगुणस्थान कहाता है। बारहवें गुणस्थान के इस नाम में १ क्षीण कषाय, २ घातराग और ३ छद्मस्थ-ये तीन विशेषण हैं और ये तीनों विशेषण व्यापक हैं। क्योंकि "क्षीणकषाय" इस विशेषण के अभाव में 'घातरागछद्मस्थ' इतने नाम से बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त बारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है। और 'क्षीणकषाय' इस विशेषण से केवल बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है, क्योंकि बारहवें गुणस्थान में कषाय क्षीण नहीं होते, किन्तु उपशान्त मात्र होते हैं।

तथा " वीतराग 'इस विशेषण के अभाव में भी क्षीणकपाय छद्मस्थगुणस्थान इतना ही नाम धारहवें गुणस्थान का ही बोधक नहीं होना किन्तु चतुर्थ आदि गुणस्थानों का भी बोधक हो जाता है, क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्ता नुबन्धि आदि कपायों का क्षय हो सकता है। परन्तु ' वीतराग " इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ-आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि उन गुणस्थानों में किसी न किसी अंश में राग का उदय रहता ही है। अतएव वीतरागत्व असंभव है। इस प्रकार ' छद्मस्थ ' इस विशेषण के न रहने से भी ' क्षीणकपाय वीतराग " इतना नाम धारहवें गुणस्थान के अनिरिक्त तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु " छद्मस्थ " इस विशेषण के रहने से धारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को छद्म ( घातिकर्म ) नहीं होता।

धारहवें गुणस्थान की स्थिति अतर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है। धारहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपक श्रेणि वाले ही होते हैं।

क्षपक श्रेणि का क्रम सक्षेप में इस प्रकार है —  
जो जीव क्षपक श्रेणि को करनेवाला होता है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सबसे पहले अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन त्रिक इन सात कर्म प्रकृतियों का क्षय करता है। और इसके बाद आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्याघरण कपाय चतुष्क तथा प्रत्याख्याघरण कपाय चतुष्क आठ कर्म प्रकृतियों के

क्षय का प्रारम्भ करता है । तथा ये आठ प्रकृतियाँ पूर्ण क्षय नहीं होने पातीं कि थोचमें ही नववें गुणस्थान के प्रारम्भ में १६ प्रकृतियों का क्षय कर डालना है । ये प्रकृतियाँ ये हैं-स्त्यानार्द्धि त्रिक ३, नरक द्विक ५, तिया द्विक ७, जाति चतुष्क ११ आतप १२ उद्योत १३, स्थावर १४, सूक्ष्म १५ और साधाग्य १६, इसके अनंतर वह अप्रत्याख्यानावरण कपाय-चतुष्क का तथा प्रत्याख्यानावरण कपाय-चतुष्क का शेष भाग जो कि क्षय होने में अभी तक बचा हुआ है, उसका क्षय करता है । और अनंतर नववें गुणस्थान के अन्त में ब्रह्म से तपुसक्वेद का, स्त्रीवेद का, हास्यादि-यदक का, पुरुषवद का सज्वलन क्रोध का, सज्वलन मान का और सज्वलन माया का क्षय करता है । तथा अन्त में सज्वलन रोम का क्षय वह दसवें गुणस्थान में करता है ॥ १५ ॥

### सयोगिकेवलिगुणस्थान-जिहों न धानावरण,

दशनावरण, मोहनीय और अतराय इन चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है और जो योग के सहित हैं वे सयोगि केवली कहते हैं तथा उनका स्वरूप विशेष सयोगिकेवलिगुणस्थान कहाता है ।

आत्म वीर्य, शक्ति उत्साह, पराक्रम और योग इन नव शब्दों का मतलब एक ही है । मन, ध्यान और काय इन तीन साधनों में योग की प्रवृत्ति होती है अतएव योग के भी अपने साधन के अनुसार तीन भेद होते हैं । जैसे—१ मनोयोग, २ ध्यानयोग और ३ काययोग । केवलिभगवान् को मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करना पड़ता है । जिस समय कोई मन पर्यायज्ञानी अथवा

अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् को शब्द हागन पूछकर मन से ही पूछता है। उस समय केवलिभगवान् उनके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करनेवाला मन पर्यायज्ञानी या अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् के हाग उत्तर देने के लिये सगठित किये गये मनो-द्रव्यों को, अपने मन पर्यायज्ञान में अथवा अधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है। और देखकर मना द्रव्यों की रचना के आधारसे अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। केवलिभगवान् उपदेश देने के लिये प्रचन योग का उपयोग करते हैं। और हलन-चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं ॥२३॥

**अयोगिकेवलिगुणस्थान**—जो केवलिभगवान् योगों से रहित हैं वे अयोगि-केवली कहाते हैं तथा उन का स्वरूप-विशेष 'अयोगिकेवलिगुणस्थान' कहाता है।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगि-अवस्था प्राप्त होती है। केवलज्ञानिभगवान्, सयोगि-अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त तक और उत्पृष्ट कुट्ट कम करोड पूर तक रहते हैं। इस के बाद जिन केवली भगवान् के वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति तथा पुट्टल (परमाणु), आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे केवलज्ञानों समुदात करते हैं। और समुदात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति तथा परमाणुओं को आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं के घरावर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म, स्थिति में तथा परमाणुओं में आयुकर्म के पराधर हैं

उनको समुदात करने की आवश्यकता नहीं है । अतएव व समुदात को करते भी नहीं ।

सर्वा केवलज्ञानो भगवान् सयोगि अवस्था के अन्त में एक ठेमे ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं, जो कि परम निजर का कारणभूत तथा लेश्या से रहित और अत्य तस्थिरतारूप होता है ।

योगों के निरोध का प्रम इस प्रकार है —

पहले वादर काययोग से वादर मनोयोग तथा वादर घचन योग को रोकते हैं । अनंतर सूक्ष्म काययोग से वादर काययोग को रोकते हैं, और पीछे उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग को तथा सूक्ष्म घचनयोग को रोकते हैं । अतः वे केवलज्ञाना भगवान्, सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुद्धध्यान के बल से सूक्ष्म काययोग को भा रोक देते हैं । इस तरह सब योगों का निरोध हो जान से केवलज्ञानो भगवान् अयोगी बन जाते हैं । और उर्मा सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुद्धध्यान की सहायता से अपने शरीर के भातरी पोले भाग को—मुख, उदर-आदि भाग को—आत्मा के प्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं । उनके आत्म प्रदेश इतने सञ्चित हो जाते हैं कि वे शरीर के तीसरे हिस्से में ही समा जाते हैं । इसके बाद वे अयोगिकेवलि भगवान् समुच्छिन्नाक्रियाऽप्रतिपात्रि-शुद्धध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय का शैलेशी करण करते हैं । सुमेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था-अथवा सर्व सधर-रूप योग-निरोध अवस्थाको 'शैलेशी' कहते हैं । तथा उस अवस्था में वेदनीय नाम और गोत्र कर्म

को शून्य-श्रेणि से और आयुक्रम की यथास्थितश्रेणि से निर्जरा करना उसे "शैलेशीकरण" कहते हैं। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगि-केवलशानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपप्राहि कर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं। और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे परसमयमात्र में अर्जुन-गति से ऊपर की ओर सिद्धि क्षेत्र में चले जाते हैं। सिद्धि क्षेत्र, लोक के ऊपरके भाग में वर्तमान है। इस के आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करने में धर्मान्निर्वाय द्रव्य की सहायता अपेक्षित होती है। परन्तु, लोक के आगे—अर्थात् अलोक में धर्मान्स्तिकाय द्रव्य का अभाव है। कर्म मल के हट जाने से शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व-गति इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा, लेपों के हट जाने पर जलके तलसे ऊपरकी ओर चला आता है ॥ १४ ॥

गुणस्थानों का स्वरूप कहा गया। अथ बन्ध के स्वरूप को दिखा कर प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध-योग्य कर्म प्रवृत्तियों को १० गाथाओं से दिखाते हैं —

अभिनव-कर्म-ग्रहण, यद्यो ओहेण तत्तथवीस-सय ।  
 नित्ययगाहाग्ग-दुग-धरज मिच्छमि सत्तर-सय ॥३॥  
 ( अभिनव-कर्म-ग्रहण यन्ध ओधेन तत्र विंशति शतम् ।  
 तीर्धकराहारक द्विक वर्ज मिथ्यात्वे सप्तदश शतम् ॥३॥ )

अर्थ—नये कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। सामान्यरूप से—अर्थात् किमी खास गुणस्थान की अथवा किमी जीव विशेष की विवक्षा किये बिना ही, बन्ध में १०० कर्म प्रवृत्तियाँ



माने, जाती है—अर्थात् सामान्यरूप से पञ्च योग्य १२०कर्म प्रवृत्तियाँ हैं। १२०कर्म प्रवृत्तियों में से नार्थद्वार नामकर्म और आहारक-द्विक के छोड़कर शेष ११७कर्म प्रवृत्तियों का पञ्च मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में होता है।

भावार्थ—जिस आकाश-क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश हैं उसी क्षेत्र में रहनेवाले कम-याग्य पुद्गलस्वरूपों को धर्माणाद्या को कर्म रूपसं परिणत कर, जाव के द्वारा उन का प्रहण होना यहा अभिनव कर्म-ग्रहण है। कम योग्य पुद्गलों का कर्म रूप सं परिणमन मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है। मिथ्यात्व, अपिरति, ज्ञाप्य और योग ये चार, जाव क वैभाषिक (विरुत)स्वरूप ह, और इसी से ये, कर्म पुद्गलों के कर्म रूप बनने में निमित्त होते हैं। कर्म पुद्गलों में जीव के ज्ञान दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ति का हो जाना यहा कर्म पुद्गलों का कर्म रूप बनना कहाता है। मिथ्यात्व-आदि जिन वैभाषिक स्वरूपों से कर्म पुद्गल कर्म रूप बन जाते हैं, उन वैभाषिक-स्वरूपों को भाव-कर्म समझना चाहिये। और कर्म-रूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्गलों को द्रव्य-कर्म समझना चाहिये। पहिले प्रहण किये गये द्रव्य-कर्म के अनुसार भाव कर्म होते हैं और भाव-कर्म के अनुसार फिर से नवीन द्रव्य-कर्मों का सवध होता है। इस प्रकार द्रव्य कर्म से भाव-कर्म और भाव-कर्म से द्रव्य कर्म ऐसी कार्यकारण भावकी अनादि परंपरा चली आती है। आत्माके साथ बँधे हुये कर्म जव परिणाम-विशेष से एक स्वभाव का परिणाम कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त कर लेत ह तब उस स्वभाव-तत्त्व-प्राप्ति को सवध समझना चाहिये, वध नहीं। इसी अभिप्राय को

जानने के लिये कम ग्रहण मात्र को उन्नत न कह कर, गाथा में अभिनव कर्म-ग्रहण को बाध कहा है। जीव के मिथ्यात्व आदि परिणामों के अनुसार कर्म पुद्गल १२० रूपों में परिणत हो सकते हैं इसीसे १२० कर्म प्रकृतियाँ बन्ध योग्य मानी जाती हैं। चापि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय में कर्म पुद्गलों को १२० रूपों में परिणत नहीं कर सकता—अर्थात् १२० कर्म प्रकृतियों को बाध नहीं सकता; परन्तु अनेक जीव एक समय में ही १२० कर्म प्रकृतियों को बाध सकते हैं। इसी तरह एक जीव भी जुदी जुदी अवस्था में जुदे जुदे समय सब मिला कर १२० कर्म-प्रकृतियों को भी बाध सकता है। अतएव ऊपर कहा गया है कि किसी खास गुणस्थानकी, और किसी खास जीव की विवक्षा किये बिना उन्नत योग्य कर्म प्रकृतियाँ १२० मानी जाती हैं। इसीसे १२० कर्म-प्रकृतियों के उन्नत को सामान्य बन्ध या बाध-बन्ध कहते हैं।

बन्ध योग्य १२० कर्म प्रकृतियाँ ये हैं —

१—ज्ञानावरण की ५ कर्म प्रकृतियाँ, जैसे, (१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अग्रधिज्ञानावरण, (४) मन पर्याय-ज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।

२—दशनावरण की ६ प्रकृतियाँ जैसे—(१) चक्षुःशनावरण (२) शब्दचक्षुर्दशनावरण, (३) अग्रधिदशनावरण (४) केवल-दशनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्राविद्रा, (७) प्रचला (८) प्रचला प्रचला और (९) स्नानार्द्धि।

३—वेदनीय की २-प्रकृतियाँ, जैसे—(१) मानवेदनीय और (२) अमानवेदनीय।

४—मोहनोप का २६-प्रकृतियों, जैसे —विष्यात्यमोहनीय ( १ ), अनतानुबन्धि क्रोध, अनतानुबन्धि-मान, अनतानुबन्धि-माया, अनतानुबन्धि-लोभ ( ४ ) अप्रत्याख्यानाघरण-क्रोध अप्रत्याख्यानाघरण-मान, अप्रत्याख्यानाघरण-माया अप्रत्याख्यानाघरण लोभ(४)प्रत्याख्यानाघरणप्रत्याख्यानाघरणमान, प्रत्याख्यानाघरणमाया, प्रत्याख्यानाघरणलोभ ( ४ ) सज्वलनक्रोध सज्वलनमान, सज्वलनमाया, सज्वलनलोभ ( ४ ), स्मोघद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ( ३ ), हास्य, रति, अरति शोक, भय और जुगुप्सा ( ६ )।

५—आयु कम की(४)-प्रकृतियाँ,जैसे;—(१)-नारक-आयु, (२)-तिर्यक्ष आयु (३)-मनुष्य आयु और (४)-देव-आयु

६-नामकम की ६७-प्रकृतियाँ जैसे;—(१)नरकगतिनामकर्म, तिर्यक्षगतिनामकर्म,मनुष्यगतिनामकर्म और देवगतिनामकर्म, ये चार गतिनामकर्म(२)एकीन्द्रियजातिनामकर्म,द्वीन्द्रियजातिनामकर्म त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म और पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म, ये पाँच जातिनामकर्म ( ३ ) आहारिकशरीरनामकर्म प्रक्रियशरीरनामकर्म, आहारकशरीरनामकर्म, तजसशरीरनामकर्म और कामणशरीरनामकर्म-ये पाँच शरीरनामकर्म । ( ५ ) आहारिक अद्भोपाद्गनामकर्म, प्रक्रिय अद्भोपाद्गनामकर्म और आहारक अद्भोपाद्गनामकर्म ये तीन अद्भोपाद्गनामकर्म (५)। वज्रप्रथमनाराचसहननामकर्म, प्रथमनाराचसहननामकर्म, अर्धनाराचसहननामकर्म, अधार्तसहननामकर्म-ये छ सद्गतनामकर्म

संस्थाननामकर्म, वासनसंस्थाननामकर्म, कुण्डसंस्थाननामकर्म और हुडसंस्थाननामकर्म ये छ सन्स्थाननामकर्म (७) धर्तृनामकर्म (८) गन्धनामकर्म (९) रसनामकर्म (१०) स्पर्शनामकर्म (११) नखानुपूर्वीनामकर्म, तिर्यगानुपूर्वीनामकर्म, मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म और देवानुपूर्वीनामकर्म—ये चार आनुपूर्वीनामकर्म (१२) शुभविहायोगतिनामकर्म और अशुभविहायोगतिनामकर्म ये दो विहायोगतिनामकर्म—ये ३६ भेद धारह पिरण्ड प्रकृतियों के हुये क्योंकि वचननामकर्म और सघातनामकर्म—इन दो पिरण्ड प्रकृतियों का समावेश शरीरनामकर्म में ही किया जाता है । (१) पराघातनामकर्म, (२) उपघातनामकर्म, (३) उच्छ्वासनामकर्म, (४) आतपनामकर्म, (५) उद्घातनामकर्म, (६) अशुक्लघुनामकर्म, ( ७ ) तीर्थङ्करनामकर्म ( ८ ) निर्माणनामकर्म ये आठ प्रत्येकनामकर्म । (१) प्रसनामकर्म, (२) यादवनामकर्म, (३) पयाप्लनामकर्म, (४) प्रत्येकनामकर्म, (५) स्थिरनामकर्म (६) शुभनामकर्म, (७) सुभगनामकर्म (८) सुस्वरनामकर्म (९) आदेयनामकर्म और (१०) यश कीर्त्तिनामकर्म—ये प्रसदशकनामकर्म (१) स्थावरनामकर्म, (२) सूक्ष्मनामकर्म, (३) अपर्याप्तनामकर्म, (४) माधारणनामकर्म, (५) अस्थिरनामकर्म (६) अशुभनामकर्म, (७) दुर्भगनामकर्म, (८) दुस्वर-नामकर्म, आदेयनामकर्म और (१०) अयश कीर्त्तिनामकर्म ये स्थावरदशकनामकर्म । ये कुल ६७ भेद हुये ।

७—गोत्र कर्म की दो प्रकृतियों, जैसे—(१) उच्चर्गात्र और (२) नीचैर्गोत्र ।

८—अन्तरायकर्म की ५-कर्म-प्रकृतियों, जैसे,—(१) दाना-तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भागान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, और (५) धीर्यान्तराय ।

इन १२० कर्म प्रकृतियों में से तीर्थङ्करनामकर्म, आहारक शरीर और आहारकश्रद्धोपाङ्ग इन तीनों कर्म प्रकृतियों का वध मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवों को नहीं होता। इस का कारण यह है कि तीर्थङ्करनामकर्म का वध, सम्यक्त्व से होता है और आहारक द्विष का वध, अप्रमत्तसमय से। परन्तु मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में जीवों को न तो सम्यक्त्व का ही सम्भव है और न अप्रमत्तसमय का, क्योंकि चौथे गुणस्थान से पहले सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता तथा सातवें गुणस्थान से पहले अप्रमत्त समय भी नहीं हो सकता। उक्त तीन कर्म-प्रकृतियों के बिना शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का वध मिथ्यात्व अधिरति कषाय और योग-इन चार कारणों से होता है, इसीसे मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में वनमान जीव शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों को यथासम्भव वधोक्त सफेते ह ॥३॥

नरयतिगजाश्वाघर चउ, हुडायवाद्धिवट्ट नपुमिच्छ ।

सोत्ततो इगाम्य सय, सासणि तिरिधोणदुहगतिग ॥४॥

नरकीत्रकजातिरथाघरचतुष्क हुडातपसेघाते नपुमिथ्यात्वम्

पोडशातपकाधिकशत, स्पुस्वादने तिर्यकस्त्यानास्त्रिदुर्भगात्रिकम्

अणमज्भागिद सघयण चउ, निउज्जोय कुखगइत्थिति ।

पणुवासतो भासे चउसयरिदुआउअअय धा ॥५॥

अनमध्यादृत्तिसहनन चतुष्कनीचादयोत कुखगतिस्त्रीति

पर्चावशत्यतो मिथ्रे चतु सप्तति द्वयोयुष्काऽऽधान् ॥६॥

अर्थ—सास्वादन-गुणस्थान में १०१ कर्म-प्रकृतियों का वध होता है। क्योंकि पूर्वोक्त ११७ कर्म प्रकृतियों में से नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, हुटसस्थान, आतपनाम कर्म सवातसहनन, नपुंसकवद और मिथ्यात्व-मोहनीय

इन १६ कर्म-प्रकृतियों का घन्प्रविच्छेद मिथ्यादृष्टिगुणस्थान के अन्त में ही हो जाता है। इस से ये १६ कर्म-प्रकृतियाँ पहले गुणस्थान से आगे नहीं चली जा सकती तथा तिर्यञ्च त्रिक, स्त्यानर्द्धिप्रक, दुर्भगनिक अनन्तानुबन्धरूपाय चतुष्क, मध्यमसस्थानचतुष्क, मध्यमसहननचतुष्क, नीच गोत्र, उदघातनामकर्म, अशुभप्रिहायोगतिनामकर्म और खीवेद इन २५ कर्म प्रकृतियों का घन्प्रविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में ही हो जाता है। इस सदृशरे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में उन २५ कर्म प्रकृतियों का घन् हो नहीं सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त १०१ कर्म-प्रकृतियों में से तिर्यञ्च त्रिक आदि उक्त २५ कर्म प्रकृतियों के घटा देने से शेष ७६ कर्म-प्रकृतियाँ रह जाती हैं। उन ७६ कर्म प्रकृतियों में से भी मनुष्य आयु तथा देव आयु को छोड़कर शेष ७५ कर्म-प्रकृतियों का घन् सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में ( तीसरे गुणस्थान में ) हो सकता है ॥५॥

भाषार्थ—नरकगति, नरक आनुपूर्वी और नरक आयु— इन तीन कर्म-प्रकृतियों को नरकत्रिक शब्द से लेना चाहिये जातिचतुष्क शब्द का मतलब एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रियजाति इन चार जातिनामकर्मों से है। स्थावरचतुष्कशब्द, स्थावरनामकर्म से साधारण-नामकर्म-पर्यन्त चार कर्म-प्रकृतियों का बोधक है। ये चार प्रकृतियाँ ये हैं स्थावरनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म और साधारणनामकर्म।

नरक-त्रिक से लेकर मिथ्यात्व-मोहनीय पर्यन्त, जो-१६ कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर दिखाई गई हैं वे अत्यन्त अशुभरूप हैं

नथ, बहुत कम नारय जीयों के एकैद्वय जायों के और विक  
 लान्द्रिय जायों के योग्य हैं। इसी से ये सोलह कर्म प्रकृतिर्षा  
 मिथ्यात्व-माहनीयकर्म के उदय से ही बाँधी जाती हैं। मि  
 थ्यात्व माहनीयकर्म का उदय पहले गुणस्थान के अन्तिम  
 समय तक रहता है दूसरे गुणस्थान के समय नहीं।  
 अनप्य मिथ्यात्वमाहनीयकर्म के उदय से बाँधनेवाला उक्त  
 १. कम प्रकृतियों का बाध भी पहले गुणस्थान के अन्तिम  
 समय तक हो सकता है दूसरे गुणस्थान के समय नहीं। इसा  
 लिय पहले गुणस्थान में जि ११७-कर्म प्रकृतियों का बाध  
 कहा गया है उन में से उक्त १६-कर्म प्रकृतियों को छोड़ कर  
 शेष १०१ कम प्रकृतियों का बाध दूसरे गुणस्थान में माना  
 जाता है।

तियञ्चशब्द से तियञ्चगति, तिर्यञ्च आनुपूर्वी और तिर्यञ्च-  
 आयु इन तीन कर्म-प्रकृतियों का ग्रहण होता है। स्थानविधिक  
 शब्द से निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला और स्थानविदि इन तीन  
 कर्म-प्रकृतियों का तथा दुर्भगशब्द से दुर्भगनामकर्म,  
 दुःखरनामकर्म और अनादेयनामकर्म इन तीन कर्म प्रकृ-  
 तियों का ग्रहण होता है। अन-तानुबाधि चतुष्कशब्द, अन-  
 न्तानुबन्धिबोध अन-तानुबाधिमान, अन-तानुबाधि  
 माया और अन-तानुबन्धिलोम इन चार कषायों का बो  
 धक है। मध्यमसस्थान चतुष्कशब्द-आदि के और अत के स  
 स्थान को छोड़ मध्य के शेष चार सस्थानों का बोधक है।  
 जैसे -न्यप्रोधपरिमडल सस्थान, सादिसस्थान, घामन-  
 सस्थान और पुञ्जसस्थान। इसी तरह मध्यम सहनन  
 चतुष्क शब्द से आदि और अत के सहनन के सिवा बाच के  
 सहनन सहनन ग्रहण किये जाते हैं। वे चार सहनन ये हैं

कृपमनाराचसहनन, नाराचसहनन, अर्धनाराचसहनन और कोलिफासहनन ।

तिर्यञ्चत्रिक मे लेकर स्त्रीवेदपर्यन्त जो २५ कर्म-प्रकृतियों ऊपर कही हुई हैं उन का बन्ध अनन्तानुबन्धिक्रपाय के उदय से होता है । अनन्तानुबन्धिक्रपाय का उदय पहल और दूसरे गुणस्थानक में ही होता है, तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं । इसीसे तिर्यञ्चत्रिक आदि उक्त पच्चीसकर्म प्रकृतियाँ भी दूसरे गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त ही बाँधी जा सकती हैं, परन्तु तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं बाँधी जा सकती । तीसरे गुणस्थान के समय जीव का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जिससे उस समय आयु का बन्ध होने नहीं पाता । इसीसे मनुष्य आयु तथा देव आयु इन दो आयुओं का बन्ध भी तीसरे गुणस्थानक में नहीं होता । नरक आयु तो नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त १६-कर्म प्रकृतियों में ही गिनी जा चुकी है तथा तिर्यञ्च आयु भी तिर्यञ्चत्रिक-आदि पूर्वोक्त पच्चीसकर्म प्रकृतियों में आ जाती है । इस प्रकार दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य जो १०१-कर्म प्रकृतियाँ हैं उन में से तिर्यञ्चत्रिक आदि पूर्वोक्त २५-तथा मनुष्य आयु और देव आयु कुल २७-कर्म प्रकृतियों के घट जाने से शेष ७४ कर्म प्रकृतियाँ तीसरे गुणस्थानक में उन्नत योग्य रहती हैं ॥ ४ ॥

सम्मे सगसयरि जिणाउघधि, घहर नरतिग वियकसाया ।  
उरल दुगतो देसे, सत्तट्टी तिअक मायतो ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वे सप्तसप्तति जिनायुर्वधे, उन्नतरत्रिक द्वितीय कपाया  
औदारिकाहिकान्तो देशे, सप्तपष्टिस्तृतीयकपायात् ॥ ६ ॥

तेषट्टि पमते सोग अरइ, अथिर दुग अजस अस्माय ।



बुद्धिज ह्यस्य सत्त्व, नर सुगण जयामिह ॥ ७ ॥  
 त्रिपष्टि प्रमत्त शोकारत्यस्थिर द्विकायशोऽसातम् ।  
 ध्ववच्छिद्यते यच्च सप्त या नयति सुरायुर्यदा निष्ठां ॥ ७ ॥  
 गुणसद्वि अरमत्ते सुपाउवधतु जइ इहागच्छेत् ।  
 अ नह अट्टावण्णा ज आहारग दुग यधे ॥ ८ ॥  
 एकोनपाट्टिप्रमत्त सुरायुर्वधन् यदीहागच्छेत् ।  
 अन्यथाऽष्टपञ्चाशद्यदाऽऽहारक द्विक् यधे ॥ ८ ॥

अर्थ—अधिरतसम्यगृष्टिनाम्न चौथे गुणस्थान में ७७  
 कर्म प्रवृत्तियों का यध हो सकता है । क्योंकि तीसरे गुणस्थान  
 की यधयोग्य पूर्वोक्त ७७ कर्म-प्रवृत्तियों की, तथा जिननाम-  
 कर्म, मनुष्य-आयु और इय-आयु की चतुर्थ गुणस्थानवर्ती  
 जीव यध सकता है । देशधिरति-नामक पाँचवें गुणस्थान  
 में ६७ कर्म-प्रवृत्तियों का यध हो सकता है । क्योंकि-  
 पूर्वोक्त ७७-कर्म-प्रवृत्तियों में से यज्जम्पभनारायम  
 हनन, मनुष्यत्रिक, अपत्याद्यानाधरणधारकपाय और  
 आदौरिकादिक इन १० कर्म प्रवृत्तियों का यध-विच्छेद चौथे  
 गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है । इस से चौथे  
 गुणस्थान से आगे क गुणस्थानों में उन १० कर्म प्रवृत्तियों का  
 यध नहीं होता । पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में तीसरे  
 चारकपायों का—अथात् प्रत्याख्यानाधरण-कपाय की चार  
 प्रवृत्तियों का यध विच्छेद हो जाता है ॥ ६ ॥ अतएव पूर्वोक्त  
 ६७-कर्म प्रवृत्तियों में से उक्त चार कपायों के घटजाने से शेष ६३  
 कर्म प्रवृत्तियों का यध प्रमत्त सयत-नाम के छठे गुणस्थान में  
 हो सकता है । छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में शोक, अरति  
 अस्थिरद्विक, अयशु कीर्तिनामकम और असातह  
 इन छ कर्म प्रवृत्तियों का यध-विच्छेद हो जाता है । ३

में नहीं होता । यदि काइ जीव छुट्टे गुणस्थान में देव आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर देता है, तो उस जीव की अपेक्षा से अरति, शोक आदि उक्त ६ कर्म प्रकृतियाँ तथा देव आयु कुल ७-कर्म प्रकृतियों का भी बन्ध पिच्छेद छुट्टे गुणस्थान के अन्तिम समय में जाता है ॥ ७ ॥

जो जीव छुट्टे गुणस्थान में देव आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये बिना ही, सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है अर्थात्-छुट्टे गुणस्थान में देव आयु का बन्ध प्रारम्भ कर सातवें गुणस्थान में ही उसे समाप्त करता है, उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५६ कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है । इसके विपरीत जो जीव छुट्टे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देव-आयु के बन्ध को, छुट्टे गुणस्थान में ही समाप्त करता है-अर्थात् देव आयु का बन्ध समाप्त करने के बाद ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५८ कर्म प्रकृतियों का बन्ध जाना है, क्योंकि सातवें गुणस्थान में आहारकालिक का बन्ध भी हो सकता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधा जा सकता है । तथा चौथे गुणस्थान में प्रथम देव तथा नारक, मनुष्य आयु को बाँधते हैं । और चतुर्थ गुणस्थान वती मनुष्य तथा तिर्यञ्च देव आयु को बाँधते हैं । इसी तरह चौथे गुणस्थान में उन ७४ कर्म प्रकृतियों का भी बन्ध हो सकता है, जिनका कि बन्ध तीसरे गुणस्थान में होता है अतः एव सप्तमिलाकर ७७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थान

में माना जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया और ताम इन चार कपायों का बंध चौथे गुणस्थान के अंतिम समय तक ही होता है, इस से प्रागे के गुणस्थानों में नहीं होता, क्योंकि पञ्चम-आदि गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानावरण-कपाय का उदय नहीं होता। और कपाय के बन्ध के लिए यह साधारण नियम है कि जिस कपाय का उदय जितना गुणस्थानों में होता है उतने गुणस्थानों में ही उस कपाय का बंध हो सकता है। मनुष्य-गति मनुष्य आनुपूर्वी और मनुष्य आयुष्य तीन कर्म-प्रकृतियाँ केवल मनुष्य-जन्म में ही भोगी जा सकती हैं। इस लिये उनका बन्ध भा चौथे गुणस्थान के अंतिम समय तक ही हो सकता है। क्योंकि पाँचवें-आदि गुणस्थानों में मनुष्य-भय योग्य कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। किन्तु देव-भव या अन्य कर्म-प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इस प्रकार ब्रह्म शृपम नाराच-सहनन और औदारिकटिक-अवेत् औदारिक शरीर तथा औदारिक अहोपाङ्ग इन तीन कर्म-प्रकृतियों का बंध भी पाँचवें आदि गुणस्थानों में नहीं होता, क्योंकि ये तीन कर्म-प्रकृतियाँ मनुष्य के अथवा तिस्र के जन्म में ही भोगने योग्य हैं और पञ्चम-आदि गुणस्थानों में देव के भव में भोगी जा सकें ऐसी कर्म-प्रकृतियों का ही बंध होता है। इस तरह चौथे गुणस्थान में जिन ७७ कर्म-प्रकृतियों का बंध होता है उन में से ब्रह्मशृपम-नाराच-सहनन-आदि उक्त १०-कर्म-प्रकृतियों के घटा देन से शेष ६७ कर्म-प्रकृतियों का ही बंध पाँचवें गुणस्थानक में होता है।

प्रत्याख्यानावरण-क्रोध, प्रत्याख्यानावरण-मान, प्रत्याख्यानावरण-माया और प्रत्याख्यानावरण-ताम इन चार कपायों का

यद्यप्यत्र गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता, क्योंकि छुट्टे आदि गुणस्थानों में उन कपायों का उदय ही नहीं है। इन्हीं लिये पाँचवें गुणस्थान की बन्ध योग्य ६७ कर्म प्रकृतियों में से, प्रत्यास्थानवरण क्रोध आदि उक्त चार कपायों को छोड़ कर शेष ६३ कर्म प्रकृतियों का बन्ध छुट्टे गुणस्थानक में माना जाता है।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छुट्टे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर, उसे उस गुणस्थान में समाप्त किये बिना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, और फिर सातवें गुणस्थान में ही देव-आयु के बन्ध को समाप्त करते हैं। तथा दूसरे वे जो देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ तथा उसकी समाप्ति दोनों छुट्टे गुणस्थान में ही करते हैं और अनन्तर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छुट्टे गुणस्थान के अन्तिम-समय में अरति, शोक, अस्थिर नाम-कर्म, अशुभनाम-कर्म, अयश कर्तिनाम-कर्म और असातवेदनीय इन छह कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। और दूसरे प्रकार के जीवों का छुट्टे गुणस्थान के अन्तिम समय में उक्त ६ कर्म प्रकृतियाँ तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद होता है। अतएव छुट्टे गुणस्थान को बन्ध-योग्य ६३ कर्म-प्रकृतियों में से अरति शोक-आदि उक्त ६ कर्म प्रकृतियों के घटा देने पर, पहले प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध-योग्य ५७ कर्म प्रकृतियाँ शेष रहती हैं और अरति, शोक आदि उक्त ६ तथा देव-आयु कुल ७ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने पर दूसरे प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध-योग्य ५६-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती

चार प्रकृतियों को घटा कर शेष कर्म प्रकृतियों का बन्ध नववें गुणस्थान के पहले भाग में हाता है। पुरुषघेद, सज्वलन क्रोध सज्वलन मान सज्वलन माया और सज्वलन लोभ इन पाँच प्रकृतियों में से एक एक प्रकृति का बन्ध विच्छेद क्रमशः नववें गुणस्थान के पाँच भागों में से प्रत्येक भाग के अन्तिम समय में होता है, जैसे, - पूर्वोक्त २२ कर्म प्रकृतियों में से पुरुष घेद का बन्ध विच्छेद नववें गुणस्थान के पहले भाग के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे शेष २१ कर्म प्रकृतियों का बन्ध दूसरे भाग में हा सकता है। इन २१ कर्म प्रकृतियों में से सज्वलन-क्रोध का बन्ध विच्छेद दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाता है। इन से शेष २० कर्म प्रकृतियों का बन्ध तीसरे भाग में हो सकता है। इन २०-कर्म प्रकृतियों में से सज्वलन मान का बन्ध तीसरे भाग के अन्तिम-समय तक ही हो सकता है आगे नहीं। इसी से शेष १६-कर्म प्रकृतियों का बन्ध, चौथे भाग में होता है। तथा इन १६-कर्म प्रकृतियों में से सज्वलन माया चौथे भाग के अन्तिम समय तक ही घाँवी जाती है, आगे नहीं। अतएव शेष १२-कर्म प्रकृतियों का बन्ध नववें गुणस्थान के पाँचवें भाग में होता है। इस प्रकार इन १२-कर्म प्रकृतियों में से भी सज्वलन लोभ का बन्ध नववें गुणस्थान के पाँचवें भाग पर्यत ही होता है, आगे दसवें आदि गुणस्थानों में नहीं हाता। अतएव उन १२ कर्म प्रकृतियों में से सज्वलन लोभ को छोड़ कर शेष १७-कर्म प्रकृतियों का बन्ध दसवें गुणस्थान में हाता है ॥ ११ ॥

भाषा—सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में परिणाम इतने स्थिर और शुद्ध हो जाते हैं कि जिस से उन गुणस्थानों में आयु का बन्ध नहीं होता। यद्यपि सातवें

गुणस्थान में ५६-कर्म प्रकृतियों के बंध का भी पक्ष ऊपर कहा गया है और उसमें देव आयु की गणना की गई है, तथापि यह समझना चाहिये कि छठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये हुये देव-आयु के बंध की सातवें गुणस्थान में जो समाप्ति होती है उसी की अपेक्षा से सातवें गुणस्थान की बंध-योग्य ५६-कर्म प्रकृतियों में देव आयु की गणना की गई है । सातवें गुणस्थान में देव-आयु के बंध का प्रारम्भ नहीं होता और आठवें आदि गुणस्थानों में तो देव आयु के बंध का प्रारम्भ और समाप्ति दोनों नहीं होते । अतएव देव आयु को छोड़ ५६-कर्म प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में उन्ध योग मानी जाती हैं । आठवें तथा नववें गुणस्थान की स्थिति अतर्मुहूर्त प्रमाण है । आठवें गुणस्थान की स्थिति के सात भाग होते हैं । इन में से प्रथम भाग में, दूसरे से लेकर छठे तक पाँच भागों में, और सातवें भाग में जितनी जितनी कर्म प्रकृतियों का बंध होता है, वह नववीं तथा दसवीं गाथा के अर्थ में दिखाया गया है । इस प्रकार नववें गुणस्थान की स्थिति के पाँच भाग होते हैं । उनमें से प्रत्येक भाग में जो बंध-योग्य कर्म प्रकृतियाँ हैं, उनका कथन ग्यारहवीं गाथा के अर्थ में कर दिया गया है ॥ ६ ॥ १० ११ ॥

अउदसणुच्चजसनाण धिग्घदसगति सोल सुच्छेत्थो ।  
 तिसु माययध छुत्थो सज्जोगिवधतु णतो अ ॥ १२ ॥  
 (चतुदर्शनेच्चयशोक्षानप्रिधनदशकमिति षोडशोच्छेद् ।  
 त्रिषु सातबधश्चेद् सयोगिनि बधस्यातोऽनतश्च ॥ १० ॥)

अर्थ—दसवें गुणस्थान की बंध योग्य १७ कर्म प्रकृतियों में से ४-दर्शनावरण, उच्चगोत्र, यश कीर्त्तिनामकर्म,



## उदयाधिकार

पहले उदय और उदीरणा का लक्षण रहत है, आतर प्रत्येकगुणस्थान में जितनी २ कर्म प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है उनको बारह गाथाओं से दिखाते हैं उदयो विवाग-चेयण मुदीरण मपत्ति इह दुःखममय । नतर सय मिच्छे मीस-सम्म आहार जिणणुदया ॥ १३ ॥ उदयो विपाक चेदन मुदीरण मपत्त इह द्विप्रिगति शतम् । सप्तदश शत मिप्यात्थे मिथ-सम्यगाहारक जिानुदयात् १३

अर्थ-विपाक का समय प्राप्त होने पर ही कर्मके विपाक (फल)को भोगना उदय कहाता है। और विपाक का समय प्राप्त न होने पर कर्म फल को भोगना उसे 'उदीरणा' कहते हैं। उदय-योग्य तथा उदीरणा योग्य कर्म-प्रकृतियों १२२ हैं। उन में से ११७ कर्म प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में हो सकता है क्योंकि १०२ में से मिथमोहनीय, सम्यक्त्र मोहनीय, आहारक-शरीर, आहारक-अङ्गापाङ्ग आर तीर्थ-ङ्कुरनामकर्म इन पाँच कर्म प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में नहीं होता ॥ १६ ॥

भावार्थ-आत्मा के साथ लगे हुये कर्म-दलित, नियत समय पर अपने शुभाशुभ-फलों का जो अनुभव कराते हैं वह "उदय" कहाता है। कर्म-दलितों को प्रयत्न-विशेष से खींचकर नियत-समय के पहले ही उन के शुभा-



शुभ-फलों को भागना उदीरणा" कहाती है। कम के शुभाशुभ फल के भोगन का ही नाम उदय तथा उदीरणा है किन्तु दोनों में भेद इतना ही है कि एक में प्रयत्न के बिना ही स्थाभाविक क्रम से फल का भोग होता है और दूसरे में प्रयत्न के करने पर ही फल का भाग होता है। कम विपाक के वेदन को उदय तथा उदीरणा कहने का अभिप्राय यह है कि, प्रणेशादय, उदयाधिकार में इष्ट नहीं है।

तीसरा गाथा के अर्थ में बंध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ कहीं हुई हैं, ये तथा मिथ्र-मोहनीय और सम्यक्त्य-मोहनीय ये दो, कुल १२२ कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग्य तथा उदीरणा योग्य मानी जाती हैं।

बंध केवल मिथ्यात्व मोहनीय का ही होता है, मिथ्र-मोहनीय तथा सम्यक्त्य मोहनीय का नहीं। परन्तु वही मिथ्यात्व, जब परिणाम विशेष से श्रद्धशुद्ध तथा शुद्ध हो जाता है तब मिथ्र मोहनीय तथा सम्यक्त्य-मोहनीय के रूप में उदय में आता है। इसीसे उदय में ये दोनों कर्म-प्रकृतियाँ बंध की अपेक्षा अधिक मानी जाती हैं।

मिथ्र-मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में ही होता है। सम्यक्त्य मोहनीय का उदय चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक हो सकता है। आहारक-शरीर तथा आहारक अन्नोपाक नामकर्म का उदय छठे या सातवें गुणस्थान में ही हो सकता है। ताथङ्कर-नामकर्म का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ही हो सकता है। इसीसे मिथ्र मोहनीय-आदि रक्त पाँच कर्म-प्रकृतियों को छोड़ शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में यथासम्भ्र माना जाता है १३

सुद्धम तिगायय मिच्छ मिच्छत मासेण इगार सयं ।  
 निरयाणुपुत्रिण सुदया अण थायर-इग विगल-अतो ॥ १४ ॥  
 सूद्धम-त्रिकातप-मिथ्यं मिथ्या त मास्वादन एकादश शतम् ।  
 निरयानुपुत्रिणुदया इनस्थ,वरैकविकलान ॥१४॥  
 मीमे सयमणुपुव्यो-णुदयामीसोदण मीसतो ।  
 घउसयमजपमम्माणुपुव्यि-खवा त्रिय-कसाया ॥ १५ ॥  
 मित्रे शत मानुपुव्यनुदयाप्रिथोदेयन मिथ्या त ।  
 चतु शनमयने सम्यगानुपूर्वोक्षराद्धिनोयकवाया ॥ १५ ॥  
 मणुतिरिणु पुव्यिउवदु दुहग अणाउउजुग सतरुद्रेयो ।  
 सगमीइ देमि तिरिगइ आउ निउउजोय निकमाया ॥ १६ ॥  
 मनुज तिर्यगानुपूर्वी वैक्रियाककुर्भगमनादेयाद्विकसप्तदशच्छेद  
 सप्ताशितेदेशे तिर्यगरथायुर्नाचोप्रात-तृतीय-कपाया १६  
 अहच्छेदो इगमी पमत्ति आहार गुगल-पफलेया ।  
 यीएतिगा हारग दुग छथा छम्मयरि अपमत्ते ॥१७॥  
 अष्टच्छेद एकाशिति प्रमत्ते आहारक-गुगलप्रक्षेपात् ।  
 स्थानद्विप्रिकाहारक छिक्छेद पद-सप्तति रप्रमत्ते ॥१७॥

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म-प्रवृत्तियों का उदय  
 होता है। क्योंकि जिन ११७ कर्म प्रवृत्तियों का उदय पहले  
 गुणस्थान में होता है उनमें से सूद्धमत्रिक (सूद्धमनामकर्म,अप  
 र्याप्तनामकर्म और साधारणनामकर्म ) आतपनामकर्म  
 मिथ्यात्वमोहनीय और नरकानुपूर्वी—इन ६ कर्म-प्रवृत्तियों  
 का उदय दूसरे गुणस्थान में घटमान-जीवों को नहीं होता।  
 अनन्तानुवर्धी चार कपाय,स्थावरनामकर्म, एकाद्रिय जाति  
 नामकर्म,चिकलेन्द्रिय,द्वीन्द्रिय,त्रीन्द्रिय और तुचरिन्द्रिय)जाति  
 नामकर्म ॥१४॥और शेष आनुपूर्वी तीन अर्थात् तिर्यञ्चानुपूर्वी,  
 मनुजानुपूर्वी और दानुपूर्वी इन १०- कर्मप्रवृत्तियों का उदय

तीसरे गुणस्थानके समय नहीं होता; परंतु मिथ मोहनीयकर्म का उदय होता है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान की उदय योग्य १११ कर्म प्रकृतियों में से अनतानुबंधी चार कषाय आदि उक्त १२ कर्म प्रकृतियों के घट जाने पर, शेष जो १६ कर्म प्रकृतियाँ रहती हैं उनमें मिथ मोहनीय-कर्म मिलाकर कुल १०० कर्म प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थानस्थित जीवों को हो सकता है।

चौथे गुणस्थान में धर्तमान, जीवों को १०४ कर्म प्रकृतियों का उदय हो सकता है क्योंकि जिन १०० कर्म प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है उनमें से कषल मिथ मोहनीय कर्म का ही उदय चौथे गुणस्थान में नहीं होता, शेष ६६ कर्म प्रकृतियों का उदय तो होता ही है। तथा सम्यक्त्वमोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वियों के उदय का भी सम्भव है। अपत्याख्यानाधरण चार कषाय ॥ १५ ॥ मनुष्य-आनुपूर्वी ( ५ ) तिर्यञ्च आनुपूर्वी ( ६ ) वैश्रिय-अष्टक ( देवगति, देव आनुपूर्वी, नरकगति, नरक आनुपूर्वी, देव-आयु, नरक-आयु, वैश्रियशरीर और वैश्रिय अङ्गोपाङ्ग ( १४ ) दुर्भगनामकर्म ( १५ ) और अनादेयादिक ( अनादेयनामकर्म तथा अयश कीर्तिनामकर्म ) ( १७ ) इन सत्रह कर्म-प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य ( १०४ ) कर्म प्रकृतियों में से घटा देने पर, शेष ( ८७ ) कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। उहाँ ( ८७ ) कर्म प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में होता है।

उक्त ८७-कर्म-प्रकृतियों में से तिर्यञ्चगति ( १ ) तिर्यञ्च-  
 ( २ ) नीचगोत्र ( ३ ) उद्योतनामकर्म ( ४ ) और प्रत्याख्याना  
 चार कषाय ( ८ ) ॥ १६ ॥

उक्त आठ र्म प्रकृतियों को घटाने से, शेष (७६) कर्म प्रकृतियाँ रहती हैं। उनमें आहारकशरीरनामकर्म तथा आहारक अङ्गोपाङ्गनामकर्म इन दो प्रकृतियों के भित्ताने में कुल हुई (८१) कर्म-प्रकृतियाँ। दृष्टे गुणस्थान में इहाँ (८१) कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

मातृ गुणस्थान में ७६ कर्म प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि पूर्वोक्त (८१)-कर्म-प्रकृतियों में से स्थानाधिक्रिक और आहारकादिक इन (५) कर्म-प्रकृतियों का उदय दृष्टे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है। आगे के गुणस्थानों में नहीं ॥१७॥

भाचार्य—सूक्ष्मनामकर्म-का उदय, सूक्ष्म-जीवों को ही अपर्याप्त-नाम कर्म का उदय, अपर्याप्त-जीवों को ही और साधारण-नाम-कर्म का उदय अनन्त-कायिक-जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और अनन्त-कायिक जीवों को न तो साम्यादन सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न कोई सास्यादन प्राप्त-जीव, सूक्ष्म, अपर्याप्त या अनन्तकायिक रूपसे पैदा होता है। तथा आतप-नाम कर्म का उदय यादर पृथिवि-कायिक जीवको ही होता है सा मा शरीर पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही, पहल नहीं। परन्तु सास्यादन सम्यक्त्व को पाकर जो जीव यादर पृथ्वी-काय में जन्म ग्रहण करते हैं वे शरीर-पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही-अर्थात् आतपनामकर्म के उदय का अग्रसर आने के पहले ही-पूर्वप्राप्तसाम्यादन-सम्यक्त्व का धमन कर देते हैं अर्थात् यादर पृथ्वी कायिक-जीवों को, जय

सम्भव होता

चाहिये पाँचवें आदि गुणस्थानों में नहीं। तथा पाँचवें से लेकर आगे के गुणस्थान, मनुष्यों और तियञ्च में यथासम्भव हो सकते हैं। देवों तथा नारकों में नहीं। मनुष्य और तियञ्च भी आठवें की उम्र होने के बाद ही, पञ्चम-आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर सकते हैं पहले नहीं। परन्तु आनुपूर्वी का उदय उन्नति के समय ही होता है इसलिये, किमी भी आनुपूर्वी के उदय के समय जीवों में पञ्चम-आदि गुणस्थान असम्भव है, नरक गति तथा नरक आयु का उदय नारक को ही होता है। देवगति तथा देवआयु का उदय देवों में ही पाया जाता है। आग्नेय-शरीर तथा वैश्वदेव अद्भुतापाङ्ग नामकर्म का उदय देव तथा नारक दोनों में होता है। परन्तु कहा जा चुका है कि देवों और नारकों में पञ्चम आदि-गुणस्थान नहीं होते। इस प्रकार दुर्भग नामकर्म अनादिय-नामकर्म और अयश कीर्त्तिनामकर्म, ये तीनों प्रकृतियाँ, पहले चार गुणस्थानों में ही उदय को पा सकती हैं क्योंकि पञ्चम आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने पर जीवों का परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उस समय उन तीन प्रकृतियों का उदय हो ही नहीं सकता। अतएव चाहे गुणस्थान में उदययोग्य जो १०४ कर्म प्रकृतियाँ कहीं हुई ह उनमें से अपत्यात्यानाचरण-अपाय-चतुष्क आदि पूर्वोक्त १७ कर्म प्रकृतियों को घटा कर शेष ८७ कर्म प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में माना जाता है। पञ्चम गुणस्थान यहाँ मनुष्य और तियञ्च दोनों ही, जिनको कि वैश्वदेव लधि प्राप्त हुई है, वैश्वदेव लधि के बलसे वैश्वदेवशरीर की तथा वैश्वदेव अद्भुतापाङ्ग को बना सकते हैं। इसी तरह छठे गुणस्थान में वर्तमान वैश्वदेव लधि सम्पन्न मुनि भी वैश्वदेव तथा वैश्वदेव अद्भुतापाङ्ग को बना सकते हैं। उस समय

उन मनुष्यों को तथा तिर्यञ्चों को, वैक्रियशरीरनाम कर्म का तथा वैक्रिय-अद्भोगोपाद्ग-नामकर्म का उदय अवश्य रहता है इसलिये, यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि पाँचवें तथा छठे गुणस्थानकी उदय योग्य प्रकृतियों में वैक्रिय शरीर नाम-कर्म तथा वैक्रिय अद्भोगोपाद्ग-नामकर्म इन दो प्रकृतियों की गणना क्यों नहीं की जाती है ? तथापि इस का समाधान इतना ही है कि जिनको जन्मपर्यन्त वैक्रिय शरीर नामकर्म का तथा वैक्रिय अद्भोगोपाद्ग नामकर्म का उदय रहता है उनकी ( देव तथा नारकों की ) अपेक्षा से ही उक्त दो प्रकृतियों के उदयका विचार इस जगह किया गया है । मनुष्यों में और तिर्यञ्चों में तो कुछ समय के लिये ही उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, जो भी सब मनुष्यों और तिर्यञ्चों में नहीं । इसी से मनुष्यों और तिर्यञ्चों की अपेक्षा से पाँचवें तथा छठे गुणस्थान में, उक्त दो कर्म प्रकृतियों के उदय का सम्भव होने पर भी, उस की विवक्षा नहीं की है ।

जिन ८७ कर्म प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में माना जाता है उन में से तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्च आयु, नीच-गोत्र, उद्द्योत-नामकर्म और प्रत्याख्यानापरण कपाय चतुष्क इन ८ कर्म प्रकृतियों को छोड़कर, शेष ७६—कर्म प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में हो सकता है । तिर्यञ्च-गति आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों का उदय, पाँचवें गुणस्थान के श्रान्तिम समय तक ही हो सकता है आगे नहीं । इस का कारण यह है कि, तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्च आयु और उद्द्योत नामकर्म इन तीन प्रकृतियों का उदय तो तिर्यञ्चों की ही होता है परन्तु तिर्यञ्चों में पहले पाँच गुणस्थान ही हो सकते हैं, आगे के गुणस्थान नहीं । नीच गोत्र का उदय

भी मनुष्यों को चार गुणस्थान तक ही हो सकता है। पञ्चम  
 शक्ति गुणस्थान प्राप्त होने पर, मनुष्यों में ऐसे गुण प्रकट  
 होन हैं कि जिनसे उन में नीच गोत्र का उद्भव हो ए  
 नहीं सकता और उच्च गोत्र का उद्भव अवश्य हो जाता है।  
 परन्तु तिस्रों को तो अपने योग्य सय गुणस्थानों में—  
 अथान् पाँचों गुणस्थानों में स्वभाव में ही नीचगोत्र का उद्भव  
 रहता है, उच्चगोत्र का उद्भव होता ही नहीं। तथा  
 प्रत्याख्यातापरण चार क्षणों का उद्भव जब तक रहना  
 है तब तक छुट्टे गुणस्थान से लेकर आगे के  
 किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती और छुट्टे आदि  
 गुणस्थानों के प्राप्त होने के बाद भी प्रत्याख्यातापरण  
 का उद्भव हो नहीं सकता। इन प्रकार तिस्रों गति आदि  
 उच्च आठ कम प्रकृतियों के बिना जिन ७६ कम प्रकृतियों  
 का उद्भव छुट्टे गुणस्थान में होता है उन में आहारक शरीर  
 नामक तथा आहारक अहोपाङ्गनामकर्म, ये दो प्रकृतियाँ  
 और भी मिलानी चाहिये जिससे छुट्टे गुणस्थान में उद्भव  
 योग्य कर्म प्रकृतियाँ ८१ होती हैं। छुट्टे गुणस्थान में आहारक  
 शरीर नामक तथा आहारक-अहोपाङ्ग नामक का  
 उद्भव उस समय पाया जाता है जिस समय कि कोई चतुर्दश  
 पूषधर मुनि लब्धि के द्वारा आहारक शरीर की रचना कर  
 उसे धारण करते हैं। जिस समय कोई वैश्रिय लब्धिधारी  
 मुनि, लब्धि से वैश्रिय शरीर को बनाकर उसे धारण करता  
 है उस समय उसको उद्घोत नामक का उद्भव होता है।  
 क्योंकि शान्त्र म इस आशय का कथन पाया जाता है कि  
 यति को वैश्रिय शरीर धारण करत समय और द्वय को उच्च  
 वैश्रिय शरीर धारण करते समय उद्घोत-नामक का उद्भव  
 होता है। अर इस जगह यह शङ्का हो सकती है कि जय

वैक्रिय शरीरियति की अपेक्षा से छठे गुणस्थान में भी उद्धोत नामकर्म का उदय पाया जाता है तथा पाँचवें गुणस्थान तक ही उसका उदय क्यों माना जाता है? परन्तु इसका समाधान सिर्फ इतना ही है कि जन्म के स्वभाव से उद्धोत नामकर्म का जो उदय होता है वही इस जगह विघटित है, लब्धि के निमित्त से होनेवाला उद्धोत नामकर्म का उदय विघटित नहीं है। छठे गुणस्थान में उदययोग्य जो ८१ कर्म प्रकृतियाँ कही हुई हैं उनमें से स्त्यागार्थ द्विक और आहारक द्विक इन पाँच कर्म प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में नहीं होता, क्योंकि स्त्यागार्थद्विक का उदय प्रमादरूप है, परन्तु छठे से आगे किसी भी गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता। इस प्रकार आहारक शरीर-नामकर्म का तथा आहारक अरुगोपाह्वग नामकर्म का उदय, आहारक-शरीर रचनेवाले मुनि को ही होता है। परन्तु वह मुनि लब्धि का प्रयोग करनेवाला होने से अवश्य ही प्रमादी होता है। जो लब्धि का प्रयोग करता है वह उरसुक हो ही जाता है। उरसुकता हुई कि स्थिरता या पक्कापता का भंग हुआ। पक्कापता के भंग को ही प्रमाद कहते हैं इसलिये, आहारक द्विक का उदय भी छठे गुणस्थान तक ही माना जाता है। यद्यपि आहारकशरीर बना लेने के बाद कोई मुनि विशुद्ध। अव्यवसाय से फिर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं, तथापि ऐसा बहुत कम होता है इस लिये इसकी विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। इसी से सातवें गुणस्थान में आहारक द्विक के उदय को गिना नहीं है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

समत्तमसद्यस्य तियगच्छेद्यो बिसत्तरि अपुब्बे ।

हासाइत्तन्नप्रतो छप्पट्टि अनियट्टियेयत्तिग ॥ १८ ॥



सम्यक्त्वात्तिमम्हन्तत्रिकच्छने हासतातिपूर्वं ।  
 हास्यादिपटकात् पदपष्टिरनिवृत्तौ यन्त्रिकम् ॥ १८ ॥  
 सज्वलणतिगच्छद्वा सद्वि सुदृमामि तुरियताभतो ।  
 उचसन गुणे गुणसाद्वि रिसहनाराय जुगअतो ॥ १९ ॥  
 सज्वलनत्रिक पदच्छद् पष्टि सूदमे तुरियलोभात् ।  
 उपशातगुण एकोनपष्टि ऋपभनाराचद्विकान् ॥ १९ ॥

—सम्यक्त्व माहनीय आर अन्त मे तीन सहान इन ४  
 कम प्रकृतियों का उदय त्रिच्छद् सातवें गुणस्थान के अन्तिम  
 समय में हो जाता है । इससे सातवें गुणस्थान का उदय  
 योग्य ७२ कर्म प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमाहनीय आदि उक्त  
 चार कर्म प्रकृतियों को घटा देने पर, शेष ७२ कम प्रकृतियों  
 का उदय आठवें गुणस्थान में रहता है । हास्य, रति, अरति,  
 भय शाक आर जुगसा इन ६ कम प्रकृतियों का उदय आठवें  
 गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है, आगे नहीं ।  
 इससे आठवें गुणस्थान की उदय योग्य ७२ कर्म प्रकृतियों  
 में से हास्य आदि ६ कर्म-प्रकृतियों को घटा देने से शेष  
 ६६ कम प्रकृतियों का ही उदय नववें गुणस्थान में रह जाता  
 है । स्त्रावेद, पुरुषवेद नपुंसकवेद, १८ सज्वलन  
 क्रोध सज्वलन मान और सज्वलन मया इन ६ कर्म-  
 प्रकृतियों का उदय, नववें गुणस्थान के अन्तिम समय तक  
 ही होता है । इससे नववें गुणस्थान की उदय योग्य ६६ कर्म  
 प्रकृतियों में से स्त्रीवेद आदि उक्त ६ कर्म प्रकृतियों को  
 छोड़कर शेष ६० कम-प्रकृतियों का उदय दसवें  
 गुणस्थान में होता है । सज्वलन-लोभ का उदय विच्छेद  
 दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है । इससे दसवें  
 गुणस्थान में जिन ६० कर्म प्रकृतियों का उदय होता है उन  
 से एक सज्वलन लोभ के विना शेष ५९ कर्म प्रकृतियों का

उदय ग्यारहवें गुणस्थान में हो सकता है। इन १६ कर्म-प्रकृतियों में से अष्टमनाराचमहनन और नाराचसहनन इन दो कर्म-प्रकृतियों का उदय, ग्यारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय पर्यन्त ही होता है ॥ १६ ॥

भावाथ - जो पुनि, सम्यक्त्वमोहनीय का उपशम या क्षय करता है वही सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों का पा सकता है, दूसरा नहीं। इसीसे ऊपर कहा गया है कि सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक में सम्यक्त्वमोहनीय का उदय विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार अध नाराच, कीलिका और सेवार्त इन तीन अन्तिम सहननों का उदय विच्छेद भी सातवें गुणस्थान के अन्त तक ही होता है - अर्थात् अन्तिम तीन सहननवाले जीव, सातवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकते। इसका कारण यह है कि जो श्रेणि कर सक्ते हैं वे ही आठवें आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर सकते हैं परन्तु श्रेणि को प्रथम तीन सहननवाले ही कर सकते हैं, अन्तिम तीन सहननवाले नहीं। इसी से उक्त सम्यक्त्वमोहनीय आदि ४ कर्म प्रकृतियों को सातवें गुणस्थान की ७२ कर्म प्रकृतियों में से घटाकर शेष ७७ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान में माना जाता है।

नववें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में अध्यवसाय इतने विशुद्ध हो जाते हैं कि जिस से गुणस्थानों में वर्तमान जीवों को हास्य, रति आदि उपयुक्त ६ कर्म प्रकृतियों का उदय होने नहीं पाता। अतएव कहा गया है कि आठवें गुणस्थान की उदय-योग्य ७२ कर्म प्रकृतियों में से हास्य आदि ६ प्रकृतियों को छोड़

कर शेष ६६ कम प्रकृतियों का उदय नववें गुणस्थान में हो सकता है ।

नववें गुणस्थान के प्रारम्भ में ६६ कम प्रकृतियों का उदय होता है । परन्तु अध्ययसायों की विशुद्धि बढ़ती ही जाती है । इससे तान घट आर सञ्जलन त्रिक, कुल ६६ कम प्रकृतियों का उदय नववें गुणस्थान में ही क्रमश रुक जाता है । अतएव दसवें गुणस्थान में उदय योग्य प्रकृतियाँ ६० ही रहती हैं । नववें गुणस्थान में वेदत्रिक आदि उक्त ६ कम प्रकृतियों का उदय विच्छेद इस प्रकार होता है यदि ध्रुवि का प्रारम्भ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्रीवेद के, पीछे पुरुष वेदके अनन्तर नपुंसक वेदके उदय का विच्छेद करके क्रमश सञ्जलन त्रिक के उदय को रोकती है । ध्रुविका प्रारम्भ करनेवाला यदि पुरुष होता है तो वह मय से पहले पुरुष वेद के पीछे स्त्रीवेद के अनन्तर नपुंसकवेद के उदय को रोक कर क्रमश अञ्जलन त्रिक के उदय का विच्छेद करता है । और ध्रुवि को करनेवाला यदि नपुंसक है तो सबसे पहले वह नपुंसक वेद के उदय को रोकता है; इसके बाद स्त्रीवेद के उदय को तत्पश्चात् पुरुष वेद के उदय को रोक कर क्रमश सञ्जलन त्रिक के उदय को बन्द कर देता है ।

दसवें गुणस्थान में ६० कम-प्रकृतियों का उदय हो सकता है । इसमें से सञ्जलन-लोभ का उदय, दसवें गुणस्थान के अन्तिम क्षण तक ही होता है । इससे सञ्जलन लोभ को छोड़ कर शेष ५६ कम प्रकृतियों का उदय स्मारह्वे में माना जाता है ॥ १८ ॥ १६ ॥

सगवन्न खीण दुर्बगिनि निहृदुगतो अचरिमि पणवना ।  
नाणतरायदसणचउद्धेओ मज्जेगि वायाला ॥२० ॥

सप्तपञ्चाशत् क्षीणद्विचरमे निद्राद्विकान्तश्च चरमे पञ्चपञ्चाशत् ।  
ज्ञानातरायदर्शनचतुश्छुः सयोगिनि द्विचत्वारिंशत् ॥ २० ॥

अर्थ—अतएव बारहवें गुणस्थान में १७ कर्म-प्रकृतियों का उदय रहता है । १७ कर्म प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त—अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय पर्यन्त पाया जाता है, क्योंकि निद्रा और प्रचला इन ही कर्म प्रकृतियों का उदय, अन्तिम समय में नहीं होता । इससे पूर्वोक्त १७ कर्म प्रकृतियों में से निद्रा और प्रचला को छोड़कर शेष १५ कर्म प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है । ज्ञानावरणकर्म की ५, अतरायकर्म की ५ और दर्शनावरणकर्म की ४—कुल १४ कर्म प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय पर्यन्त ही होता है, आगे नहीं । इससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय की उदय योग्य १५ कर्म प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म प्रकृतियों के घटा देने से ४१ कर्म प्रकृतियाँ शेष रहती हैं । परन्तु तेरहवें गुणस्थान से लेकर तीर्थकर-नामकर्म के उदय का भी सम्भव है । इसलिये पूर्वोक्त ४१, और तीर्थङ्कर नामकर्म, कुल ४२ कर्म प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में हो सकता है ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनको क्रपभनाराच महनन का या नाराच सहनन का उदय रहना है वे उपशम-श्रेणि की ही कर सकते हैं । उपशम श्रेणि करनेवाले, बारहवें गुणस्थान पर्यन्त ही चढ सकते हैं, क्योंकि क्षपकश्रेणि किये बिना बारहवें गुणस्थान-



दु स्वरसुस्वरसातासातेकतर च त्रिंशद्न्युच्छेद ।

द्वादशायोगिनि सुभगादेययशोऽन्यतरवेदनीयम् ॥ २२ ॥

तसतिग परिणदि मणुयाउ गइजिणुच्चति स्वरम समयतो ।

प्रसत्रिकपञ्चन्द्रियमनुजायुर्गतिजिनोद्यमिनि चरमसमयात् ।

अर्थ—श्रीदारिक-द्विक ( श्रीदारिक-शरीरनामकर्म तथा श्रीदारिक अङ्गोपाङ्गनामकर्म ) २, अस्थिर द्विक ( अस्थिरनामकर्म, अशुभनामकर्म ) ४, एगति द्विक ( शुभविहायोगतिनामकर्म और अशुभविहायोगतिनामकर्म ) ६, प्रत्येक त्रि- ( प्रत्येकनामकर्म, स्थिरनामकर्म और शुभनामकर्म ) ६, समचतुरस्र, यप्रोधपरिमडल, सादि, घामा, कुब्ज और हुण्ड-ये छ सस्थान १५, अगुरुलघुचतुष्क ( अगुरुलघुनामकर्म, उपाघातनामकर्म, पराघातनामकर्म और उच्छ्वासनामकर्म ) १६, वर्ण चतुष्क ( वर्णनामकर्म, गधनामकर्म, रसनामकर्म और स्पर्शनामकर्म ) २३, निर्माणनामकर्म २४, तैजसशरीरनामकर्म २५, कार्मणशरीर-नामकर्म २६, प्रथम सहनन ( वज्ररूपभनाराच सहनन ) २७ ॥ २१ ॥

दु स्वरनामकर्म २८, सुस्वरनामकर्म २९ और सातवेदनीय तथा असातवेदनीय—इन दो में से कोई एक ३०—ये तीस प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही उदय को पा सकती हैं, चौदहवें गुणस्थान में नहीं। अतएव पूर्वोक्त ४२ में से इन ३० कर्म-प्रकृतियों के घट जाने पर शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में रहती हैं। ये १२ कर्म प्रकृतियाँ ये हैं—सुभगनामकर्म, आदेयनामकर्म, यशकीर्तिनामकर्म, वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक प्रसत्रिक ( असनामकर्म, चादरनामकर्म और

पर्याप्तनामकर्म ), पञ्चद्वयजातिनामकर्म, मनुष्य आयु, मनुष्यगति, तीर्थङ्करनामकर्म और उद्यमात्र-इन १२ प्रकृतियों का उदय चादह्ये गुणस्थान के अन्तिम-समय तक रहता है ।

भाषा—चौदह्ये गुणस्थान में किसी भी जीव को वेद नीयकर्म की दोनों प्रकृतियों का उदय नहीं होता । इस लिये जिस जीव की उा दो में से जिस प्रकृति का उदय, चौदह्ये गुणस्थान में रहता है उस जीवको उस प्रकृति के सिवाय दूसरी प्रकृति का उदय विच्छेद तेरह्ये गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है । औदारिक द्विक आदि उक्त तीस प्रकृतियों में से वेदनीयकर्म की अन्तर प्रकृति के सिवा शेष २६ कम प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकिनी ( पुद्गल द्वारा विपाक का अनुभव करने वाली ) हैं इनमें से सुस्थगनामकर्म और दु स्वरनामकर्म—ये दो प्रकृतियाँ भाषा पुद्गल विपाकिनी हैं । इस से जय तक घचन योग की प्रवृत्ति रहती है और भाषा पुद्गलों का ग्रहण तथा परिणमन हाता रहता है तभी तक उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है । शेष २७ कर्म प्रकृतियाँ शरीर पुद्गल विपाकिनी हैं इस लिये उनका भी उदय तभी तक हो सकता है जय तक कि काययाग के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और आलम्बन किया जाता है । तेरह्ये गुणस्थान के चरम समय में ही योगों का निर्दोष होजाता है । अतएव पुद्गल विपाकिनी उक्त २६ कम प्रकृतियों का उदय भी उसी समय में रुक जाता है । इस प्रकार तेरह्ये गुणस्थान में जिन ४२ कर्म प्रकृतियों का उदय हो सकता है; उनमें से

और उक्त २६ पुद्गल विपाकिनी—कुल ३०

कर्म प्रकृतियों को घटा देने से शेष १२ कर्म प्रकृतियों रहती हैं । इन १२ कर्म प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है । इस के रुक जाते ही जीव, कर्म मुक्त होकर पूर्ण सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और मोक्ष को चला जाता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

# इति

उदयाधिकार समाप्त ।





## उदय-यन्त्र

	गुणस्थानों के नाम	मूल प्रवृत्तियाँ	कृत्तर प्रवृत्तियाँ	ज्ञानावरणाय	दशनावस्थायीय	चेदनीयकम	भोइनाय	आपुक्तम	नामकम	गोत्रकम	अंतराय
०	शोष स	८	१२२	५	८	२	२५	४	४६	२	५
१	मिथ्यात्व में	८	११७	५	८	३	३५	४	४६	३	५
२	सास्वादन में	८	१११	५	८	४	३५	४	४६	४	५
३	मिश्र म	८	१००	५	८	५	२५	४	४६	५	५
४	अविरत में	८	१०४	५	८	६	२५	५	४६	६	५
५	दशविरत में	८	९७	५	८	७	१५	५	४६	७	५
६	प्रमत्त में	८	८९	५	८	८	१५	५	४६	८	५
७	अप्रमत्त म	८	७६	५	८	९	१५	५	४६	९	५
८	अध्वरुण में	८	७२	५	८	१०	१५	५	४६	१०	५
९	अनिचृति में	८	६६	५	८	११	६	५	४६	११	५
१०	सहस्रसम्पराय म	८	६०	५	८	१२	५	५	४६	१२	५
११	दशधातमोह में	८	५४	५	८	१३	५	५	४६	१३	५
१२	नीयमाह में	८	४८	५	८	१४	५	५	४६	१४	५
१३	सयोगिकेवली म	८	४२	०	०	१५	५	५	४६	१५	५
१४	अयोगिकेवली म	८	३६	०	०	१६	५	५	४६	१६	५



## उदीरणाधिकार

अथ प्रत्येक गुणस्थान में जितनी जितनी कर्म प्रकृतियों की उदीरणा हो सकती है उ हं दिखाते हैं —

उदउ बुदीरणा परमपमत्ताई सगगुणेषु ॥ २३ ॥

उदय इवोदीरणा परमप्रमत्तादिसप्तगुणेषु ॥ २३ ॥

अर्थ—यद्यपि उदीरणा उदय के समान है—अर्थात् जिस गुणस्थान में जितनी कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है उम गुणस्थान में उतनी ही कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा भी होती है । तथापि सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानों में उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेष है ॥ २३ ॥

उस विशेष को ही दिखाते हैं :-

पसाः पयडि तिगूणा वेयणियाहारजुगलर्थाणतीग ।

मणुयाउ पमत्ता अजोगि अणुदीरगो भगव ॥ २४ ॥

एपा प्रकृतित्रिकोना वेद गीयाहारक युगलस्त्यानर्द्धिकम् ।

मनुजायु प्रमत्ताता अयोग्यनुदीरको भगवान् ॥ २४ ॥

अर्थ—सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान-पर्यन्त, प्रत्येक गुणस्थान में उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ, उदय योग्य कर्म प्रकृतियों से तीन तीन कम होती हैं, क्योंकि छठे गुणस्थान के, अन्तिम समय में आठ कर्म प्रकृतियों की

उदीरणा रुक जाती है । इससे आगे के गुणस्थानों में उन आठ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा नहीं होती । ये आठ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—वेदनीय की दो प्रकृतियाँ ( २ ) आहारक द्विक ( ४ ) स्त्यानादि त्रिक ( ७ ) और मनुष्य आयु ( ८ ) । चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान अयोगिकेवलमगवान् किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं करते ॥ २४ ॥

भावाथ—पहले से छठे पर्यन्त छह गुणस्थानों में उदीरणा योग्य-कर्म प्रकृतियाँ, उद्योग्य कर्म-प्रकृतियों के धरापर ही होती हैं । जैसे—पहले गुणस्थान में उद्योग्य-योग्य तथा उदीरणा योग्य एक सौ सत्रह कर्म प्रकृतियाँ होती हैं । दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म प्रकृतियों का उद्योग्य तथा उदीरणा होना है । तीसरे गुणस्थान में उद्योग्य और उदीरणा दोनों ही सौ सौ कर्म प्रकृतियों के होते हैं । चौथे गुणस्थान में उद्योग्य १०४ कर्म प्रकृतियों का और उदीरणा भा १०४ कर्म प्रकृतियों की होती है । पाचवें गुणस्थान में ८७ कर्म-प्रकृतियों का उद्योग्य और ८७ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा होती है । तथा छठे गुणस्थान में उद्योग्य योग्य भी ८१ कर्म प्रकृतियाँ और उदीरणा योग्य भी ८१ ही कर्म प्रकृतियाँ होती हैं । परन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें पर्यन्त सात गुणस्थानों में उद्योग्य-योग्य कर्म-प्रकृतियों की तथा उदीरणा योग्य कर्म प्रकृतियों की संख्या समान नहीं है । किन्तु उदीरणा योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ उद्योग्य योग्य कर्म प्रकृतियों से तीन तीन कम होती हैं । इसका कारण यह है कि छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उद्योग्य विच्छेद आहारकोटिक और स्त्यानादि-त्रिक—इतना पाच प्रकृतियों का ही होता है । परन्तु उदीरणा विच्छेद उक्त ५ प्रकृतियों के सिवाय वेदनीयद्विक तथा मनुष्य-आयु-इन दोन प्रकृतियों का भी होता है । छठे गुणस्थान से आगे के

गुणस्थानों में ऐसे अध्वसय नहीं होते जिनसे कि वेदनीय-  
 ठिक की तथा आयु की उदीरणा हो सके । इससे  
 सातवें-आदि गुणस्थानों में उदय योग्य तथा उदीरणा-योग्य  
 कर्म-प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार होती है —सातवें  
 गुणस्थान में उदय ७६ प्रकृतियों का और उदीरणा ७३  
 प्रकृतियों की। आठवें गुणस्थान में उदय ७२ प्रकृतियों का और  
 उदीरणा ६६ प्रकृतियों की। नववें गुणस्थान में उदय ६६ कर्म  
 प्रकृतियों का और उदीरणा ६३ कर्म प्रकृतियों की। दसवें में  
 उदय योग्य ६० कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५७ कर्म  
 प्रकृतियाँ । ग्यारहवें में उदय-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियाँ और  
 उदीरणा योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियाँ । बारहवें गुणस्थान में  
 उदय-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५४ कर्म-  
 प्रकृतियाँ । और उसी गुणस्थान के अन्तिम समय में  
 उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा योग्य ५० कर्म  
 प्रकृतियों तथा तेरहवें गुणस्थान में उदय योग्य ४२ कर्म-  
 प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ३६ कर्म-प्रकृतियाँ हैं ।  
 चौदहवें गुणस्थान में किसी भी कर्मकी उदीरणा नहीं होती,  
 क्योंकि उदीरणा के होने में योग की अपेक्षा है, पर उस  
 गुणस्थान में योग का सर्वथा निरोध ही हो जाता है ॥२॥

॥ इति ॥

उदीरणाधिकार समाप्त.



## उदीरणा यन्त्र

	मुखस्थानों क नाम	मूल प्रहृतिया	उत्तर प्रहृतिया	मानावरणीय	दशनावरणीय	वेदनायकम्	मोहनीयकम्	आयुकम्	नामकम्	गोत्रकम्	अंतरायकम्
०	श्लेष स	५	१२३	५	५	३	५	५	५	५	५
१	मिथ्यात्व म	५	११७	५	५	३	५	५	५	५	५
२	सास्वादन म	५	१११	५	५	३	५	५	५	५	५
३	मिथ्य म	५	१००	५	५	३	५	५	५	५	५
४	अरिक्त में	५	१०४	५	५	३	५	५	५	५	५
५	अरिक्त म	५	५७	५	५	३	५	५	५	५	५
६	प्रमत्त में	५	५१	५	५	३	५	५	५	५	५
७	अप्रमत्त म	५	७३	५	५	३	५	५	५	५	५
८	अपूर्वकारण में	५	७५	५	५	३	५	५	५	५	५
९	अनिवृत्तिबाध म	५	७३	५	५	३	५	५	५	५	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय म	५	५७	५	५	३	५	५	५	५	५
११	हृष्यात्तमोह म	५	५५	५	५	३	५	५	५	५	५
१२	नीचमोह म	५	५५	५	५	३	५	५	५	५	५
१३	सयोगिन्वनी म	५	३६	५	५	३	५	५	५	५	५
१४	अयोगिन्वली म	५	३६	५	५	३	५	५	५	५	५



## सत्ताधिकार ।

पहले सत्ता का लक्षण कहकर, अनंतर प्रत्येक गुणस्थान-  
में सत्ता-योग्य कर्म प्रकृतियों को दिखाते हैं —

सत्ता कम्भाणीठई बंधाई लद्ध अत्त लाभण ।

सत्ते अडयाल सय जा उवसमु विजिणु नियतइण ॥ २५ ॥

सत्ता कर्मणा स्थितिवन्धादिलब्धात्मलाभाणाम् ।

सत्यप्राचत्वारिंशच्छ्रुत यावदुपशम विजिन द्वितीयतृतीये ॥ २५ ॥

अर्थ—कर्म-योग्य जिन पुद्गलों ने बन्ध या सक्रमणद्वारा अपने स्वरूप को ( कर्मरूप को ) प्राप्त किया है उन कर्मों के आत्मा के साथ लगे रहने को "सत्ता" समझना चाहिये। सत्ता-में १४= कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं । पहल गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ग्यारह गुणस्थानों में से, दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नव गुणस्थानों में १४= कर्म प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है । दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में १४७ कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है क्योंकि उन दो गुणस्थानों में तार्थहरनामकर्म की सत्ता नहीं होता ॥ २५ ॥

भाषार्थ—बन्ध के समय जा कर्म-पुद्गल जिस कर्म-स्वरूप में परिणत होते हैं उन कर्म पुद्गलों का उसी कर्म-स्वरूप में आत्मा से लगा रहना यह कर्मों की "सत्ता" कहती है । इस प्रकार उहाँ कर्म पुद्गलों का प्रथम स्वरूप को छोड़ दूसरे कर्म स्वरूप में बदल, आत्मा से लगा रहना, यह भी "सत्ता" कहलाती है प्रथम प्रकार की सत्ता-



नामकर्म । इस तरह उद्योग्य १०० कर्म प्रकृतियों में चारन नामकर्म तथा सत्रातन-नामकर्म के पाच पाच भेदों को मिलाने से और घर्णादिक के सामान्य चार भेदों के स्थान में उक्त प्रकार से २० भेदों के गिनने से कुल १०० कर्म प्रकृतियाँ सत्ताधिकार में होती हैं । इन सब कर्म प्रकृतियों के स्वरूप को व्याख्या पहिले कर्मग्रन्थ से जान लना चाहिये ।

जिसने पहले नरक को आयु का बंध फर लिया है और पीछे से क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व को पाकर उसके बल से तीर्थङ्करनामकर्म को भी बंध लिया है, वह जीव नरक में जाँके समय सम्यक्त्व का त्याग कर मिय्यत्त्व को अन्नश्य ही प्राप्त करता है । ऐसे जीव को अपेक्षा में ही, पहिले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म को सत्ता माना जाता है । दूसरे या तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव, तीर्थङ्करनामकर्म को बंध नहीं सकता क्योंकि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व ही नहीं होता जिससे एक तीर्थङ्करनामकर्म, बंधा जा सके । इस प्रकार तीर्थङ्करनामकर्म को बंध कर भी कोई जीव सम्यक्त्व से न्युत होकर, दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर नहीं सकता । अतएव कहा गया है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म को छोड़, १०७ कर्म प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है ॥

पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ११ गुणस्थानों में से दूसरे और तीसरे गुणस्थान का छोड़ कर शेष नव गुणस्थानों में १०० कर्म प्रकृतियों का सत्ता कही जाती है, सो योग्यता की अपेक्षा से समझना चाहिये । क्योंकि किसी भी जीव को एक समय में दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता हो नहीं सकती परन्तु योग्यता सब



कर्मों का हो सकता है जिसस सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी घनमान नहीं है उसका भी घ घ और सत्ता हो सके । इस प्रकार की योग्यता को सम्भव सत्ता कहते हैं और घर्तमान कर्म को सत्ता का स्वरूप सत्ता ॥ २५ ॥

चतुर्थ आदि गुणस्थानों में प्रकारांतर से भी सत्ता का उल्लेख करते हैं —

अपुष्पाद् चतुष्के अणु तिरि निर्याड विणु वियाल सय ।  
समाद् चतसु सन्नग जयमि इगचत्त सयमहया ॥ २६ ॥  
अपूषादिचतुष्के ऽनतियाम्निरयायुधिना ढाचत्वारिंशच्छतम् ।  
सम्यगादिचतुषु सप्तकक्षय एकचत्वारिंशच्छतमधया ॥ २६ ॥

अर्थ—१४८ कर्मप्रकृतियों में से अनतानुबन्धि चतुष्क तथा नरक और तियञ्चआयु—इन छ के सिवा शेष १४२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता आठों से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त चार गुणस्थानों में होती है । तथा अनतानुबन्धि चतुष्क आर दर्शन त्रिक—इन सात कर्म प्रकृतियों का क्षय हो जान पर शेष १४१ कर्म प्रकृतियों की सत्ता चोथे से सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में हो सकती है ॥२६॥

भाषा—पञ्चसमूह का सिद्धांत है कि “जो जीव अन तानुबन्धकषाय-चतुष्क का विसंयोजना नहीं करता वह उपशम श्रेणि का प्रारम्भ नहीं कर सकता” । तथा यह सब सम्मत सिद्धांत है कि “नरक का या तियञ्च की आयु को शोध कर जीव उपशम श्रेणि को नहीं कर सकता” । इन अनुसार १४२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष

माना जाता है, क्योंकि जो जीव अनन्तानुबन्धिकाय-चतुष्क की विसयोजना कर और देव आयु को बाँध कर उपशम-श्रेणि को करता है उस जीव को अप्सम आदि ४ गुणस्थानों में १४२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है। विसयोजना, क्षय को ही कहते हैं; परन्तु क्षय और विसयोजना में इतना ही अंतर है कि क्षय में नष्टकर्म का फिर से सम्भव नहीं होता और विसयोजना में होता है।

चौथे से लेकर सातवें पर्यंत चार गुणस्थानों में वर्तमान जो जीव, क्षायिक सम्यक्त्वों हैं—अर्थात् जिन्होंने अनन्तानुबन्धिकाय-चतुष्क और दर्शन त्रिक—इन सान कर्म प्रकृतियों का क्षय किया है, उन की अपेक्षा से उक्त चार गुणस्थानों में १४१ कर्म प्रकृतियों को सत्ता माना गई है। क्षायिक सम्यक्त्वों होने पर भी जो चरम शरीरी नहीं हैं—अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को नहीं पा सकते हैं किन्तु जिनको मोक्ष के लिये जन्मांतर लेना पार्की है—उन जीवों की अपेक्षा से १४१ कर्म प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिये, क्योंकि जो चरम शरीरी क्षायिक सम्यक्त्वों हैं उन को मनुष्य आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव-सत्ता ॥ २६ ॥

अत्र क्षपक जीव की अपेक्षा से सत्ता का वर्णन करते हैं।

खयगतु पप्य चउमुवि पणयाल नरयतिरिसुराउविणा ।

सत्तगविणु अडतोम जा अनियट्टो पढमभागो ॥ २७ ॥

क्षपक तु प्राप्य चतुर्ष्वपि पञ्चसत्वारिशन्नरकतिर्यक्सुरायुर्विना सप्तक विनाप्याग्निद्याग्निवृत्तिप्रथमभाग ॥ २७ ॥

अर्थ—जो जीव क्षण ( क्षणकधेणि कर उनी जन्म में मोक्ष पानवाला ) है उसको अथवा मे चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में १४५ कर्म प्रवृत्तियों की सत्ता पाया जाती है, क्योंकि उस क्षणक जीव का— अर्थात् धर्मशरीरी जीव को—नरक आयु, त्रियञ्च आयु और द्वाय आयु—इन तीन कर्म प्रवृत्तियों की न तो स्वरूप सत्ता है और न सम्भव सत्ता । जो जीव क्षायिकसम्यक्त्वो होकर क्षणक है उसकी अथवा मे चौथे गुणस्थान से लेकर नववें गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त उक्त तीन आयु, अनतानुबन्धि-कपायचतुष्क और दर्शन त्रिक—इन दस को छोड़कर १४८ में से शेष १३८ कर्म प्रवृत्तियों की सत्ता पायी जाती है ॥ २७ ॥

मात्राध—जो जीव, वर्तमान जन्म में ही क्षणक-धेणि कर सकते हैं, वे क्षणक या धर्म शरीरी कहाते हैं । उनका मनुष्य आयु ही सत्ता में रहती है दूसरी आयु नहीं । इस तरह उनको आगे भी दूसरी आयु की सत्ता होने की सम्भावना नहीं है । इसलिये उन क्षणक जीवों को मनुष्य-आयु के सिवा अन्य आयुओं की न तो स्वरूप सत्ता है और न सम्भव सत्ता । इसी अथवा मे क्षणक जीवों को १४५ कर्म प्रवृत्तियों की सत्ता कहा हुई है । परन्तु क्षणक जीवों में जो क्षायिकसम्यक्त्वो हैं उनको अनतानुबन्धि आदि सात कर्म प्रवृत्तियों का भी क्षय हो जाता है । इसलिये क्षायिकसम्यक्त्वो क्षणक जीवों को १३८ कर्म प्रवृत्तियों की सत्ता कहा हुई है । जो जीव, वर्तमान जन्म में क्षणकधेणि नहीं कर सकते, वे अधर्म शरीरी कहाते हैं । उनमें कुछ क्षायिकसम्यक्त्वो भी होते हैं और कुछ औपशमिकसम्यक्त्वो तथा कुछ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वो । २५वीं गाथा में १४८

कर्मप्रकृतियों की सत्ता कहीं हुई है, सो छायोपशमिक-सम्यकत्वो तथा औपशमिक सम्यङ्गो अचरमशरीरी जीव की अपेक्षा से । और जो २६वों गाथा में १३१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कहीं हुई है, सो छायिक सम्यकत्वो अचरमशरीरी जीव की अपेक्षा से । क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होने का सम्भव रहना ही है, इसीलिये उसको सब आयुओं की सत्ता मानी गई है ॥ २७ ॥

अब क्षपकप्रेण्डिले जीव की अपेक्षा से ही नरों आदि गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों की सत्ता दिग्गई जाती है —

थावरतिरिनिग्यायव दुग्थीण्णतिगेगग्निगतसाहारम् ।  
सोलखत्रो दुवीससय त्रियमि वियतिपकसायतो ॥ २८ ॥  
स्थावरतिर्यग्निरयातपठिकस्थानद्विभ्रिकैकचिकूलमापारम् ।  
पोड्यक्षयो द्वात्रिंशतिशत द्वितीयागे द्वितीयतृतीयरूपाया त ॥

तद्वयाइसु चउदमनेरगारद्वपलचउतिहियसय कमसो ।  
नपु शैत्य हासद्यग पुस तुरिय कोह मयमाय मग्ना ॥ २९ ॥  
तृतीयादिपु चतुर्दशत्रयोदशद्वादशपदपञ्चचतुस्यापिद्वगुत  
क्रमशः । नपुसरुत्थीहास्यपदकपुस्तुर्येकोधमदमायाय ॥ ३० ॥

सुदमि दुमय लोह तो खोणदुचरिममेगसत्रो दुनिदरगो ।  
नयनइ चरमसमण चउदस्यनाणविग्ध तो ॥ ३१ ॥  
सूत्रमे द्विशत लोमान्त क्षोणद्विचरम प्रकशन द्विनिद्राक्षय ।  
नयनप्रतिश्चरम समये चतुर्दशनधानविप्लान्त ॥ ३२ ॥

पणसोइ मयोगि अजोगि दुचरिमे देवग्गइ गधरुप ।  
फासट्टनरसतणुवधणसंगायणनिमिण ॥ ३३ ॥

पञ्चार्थातिस्मयोगिन्ययागिनि द्विचरमे न्यररगतिगण्डिकम् ।

स्वपापक-यर्णरसवधनमघातनपञ्चकनिर्माणम् ॥ ३१ ॥

मघयणअधिगसडाण-शुभ-प्रगुदलदुचउअपञ्जस ।

माय घ अमाय या पार-तुयगातेगसुमरनिय ॥ ३० ॥

सदननाम्भिरसस्थानपदकागुदलयुचतुष्पापयाप्तम् ।

सात या सात या प्रत्येकोपाह्निशुस्वरनां वम् ॥ ३२ ॥

विसपरिग्रयो य धरिमे तेरस मणुयतमनिग जसागज्ज ।

सुमगजिणुच-प्रणिद्रिय सायासापगयर्द्धेयो ॥ ३३ ॥

दासप्ततिहयदच चरमे शयाशुमनुजत्रमशिकयशद्वादेयम् ।

सुमगजिगोच-प्रशेद्रिय सातासातैकनरच्छेद ॥ ३३ ॥

अथ—नववें गुणस्थान के नव भागों में से पहिले भाग में १३२ कम प्रकृतियों की सत्ता पूर्व गाथा में कही हुई है । उन में से स्थायर द्विक ( स्थायर और सूप्मनामकम ) २, तिर्यञ्च द्विक ( तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्च आनुपूर्वीनामकम ) ४, नरकद्विक ( नरकगति और नरक आनुपूर्वी ) ६, आतपद्विक ( आतपनामकम और उद्योतनामकम ) ८, म्यानार्द्धे त्रिक ( निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानार्द्धे ) ११, एकेन्द्रियजातिनामकर्म १२, विकलेन्द्रिय ( द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्म ) १५ और साधा गणनामकम १६—इन सोलह कम प्रकृतियों का क्षय प्रथम भाग के अन्तिम समय में हो जाता है; इस से दूसरे भागमें १०२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता शेष रहनी है । तथा १२२ में से अप्रत्याख्यानानावरणकषाय-चतुष्क और प्रत्याख्यानानावरण कषाय-चतुष्क—इन आठ कर्म प्रकृतियों की सत्ता का क्षय दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाता है ॥ २८ ॥

अर्थ—अतएव, तीसरे भाग में ११४ कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। तीसरे भाग के अन्तिम समय में नपुमकथेद-का क्षय हो जाने से, चौथे भाग में ११३ कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस प्रकार चौथे भाग के अन्तिम समय में स्त्री-वेद का अभाव होने से पाँचवें भाग में ११२, पाँचवें भाग के अन्तिम-समय में हास्य पदक का क्षय होने से छठे भाग में १०६, छठे भाग के चरम समय में पुरुष वेद का अभाव हो जाता है इस से सातवें भाग में १०७ सातवें भाग के अन्तिम समय में सज्वलनक्रोध का क्षय होने से आठवें भाग में १०६ और आठवें भाग के अन्तिम समय में सज्वलनमान का अभाव होने से नववें भाग में १०३ कर्म प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। तथा नववें गुणस्थान के नवम भाग के अन्तिम समय में सज्वलन माया का क्षय हो जाता है ॥ २६ ॥

अर्थ—अतएव, दसवें गुणस्थान में १०२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में लोभ का अभाव होता है, इस से बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय पर्यन्त १०१ कर्म प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है। द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला—इन २ कर्म प्रकृतियों का क्षय हो जाता है जिससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ९९ कर्म प्रकृतियों सत्तागत रहती हैं। इन ९९ में से ५ ज्ञानाचरण, ५ अतराय और ४ दर्शनाचरण—इन १४ कर्म प्रकृतियों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में हो जाता है ॥ ३० ॥

अर्थ—अतएव, तेरहवें गुणस्थान में और चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त ८५ कर्म प्रकृतियों की सत्ता शेष

रहती है। द्विचरम समय में ७२ कर्म प्रवृत्तियों की सत्ता का अभाव हो जाता है। ये ७२ कर्म प्रवृत्तियाँ ये हैं—देव द्विक २ खगति द्विक ४, ग २-द्विक—( सुरभिगन्धनामकर्म और दुरभिगन्धनामकर्म ) ६, स्पपाएन—( ककश मृदु, लघु गुरु, शीत, उष्ण स्निग्ध और रुक्षस्पर्शनामकर्म ) १४, वरुपञ्चक—( वृष्ण, नील, लोहित हारिद्र और शुक्लवर्णनामकर्म ) १६ रमपञ्चक—( कटुक तिक्त, कपाय, अम्ल और मधुररसनामकर्म ) २४, पाँच शरीर नामकर्म—२६, उधन पञ्चक—( औदारिक उधन, वैक्रिय उधन, आहारक उधन तजस उधन और कामण उधननामकर्म ) ३४, सघातन-पञ्चक—( औदारिक सघातन, वैक्रिय सघातन, आहारक सघातन, तजस सघातन और कामणसघातन नामकर्म ) ३६ निर्माणनामकर्म ४० ॥ ३१ ॥

अर्थ—सहनन पदक—( यज्ञऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच अर्धनाराच, कोलिषा और सेनातसहनन नामकर्म ) ४६, अस्थिरपदक—( अस्थिर, अशुभ दुर्भाग, दुस्वग, अनादेय आर अयश कर्ति नामकर्म ) ५२, सस्थान पदक—( समचतुरस्र, न्यमोघपरिमडल सारि यामन, कुञ्ज और हुण्डसस्थान नामकर्म ) ५८, अगुरुराघु चतुष्क ६८ अर्प्याप्तनामकर्म ६३ सातयेदनीय या असातयेदनीय ६४, प्रत्येकत्रिक—( प्रत्येक, स्थिर और शुभनामकर्म ) ६७ उपाङ्ग त्रिक—( औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय अङ्गापाङ्ग और आहारक अङ्गापाङ्गनामकर्म ) ७०, सुस्वरनामकर्म ७१ और नाचगोत्र ७२ ॥ ३२ ॥

अथ—उपयुक्त ७२ कर्म प्रवृत्तियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में हो जाता है जिससे अन्तिम

समय में १३ कर्मप्रकृतियों को सत्ता रहता है । ७ तेरह कर्म प्रकृतियाँ ये हैं—मनुष्य त्रिक ( मनुष्यगति, मनुष्यश्रानुपूर्वी और मनुष्यआयु ) ३, ब्रह्म त्रिक—( ब्रह्म, वादर और पर्याप्तनामकर्म ) ६, यश कर्तिनामकर्म ७, आदेयनामकर्म ८, सुभगनामकर्म ९, तीर्थद्वारनामकर्म १०, उद्योग ११, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म १२ और सातवेदनोय या असात वेदनीय में से कोई एक १३। इन तेरह कर्मप्रकृतियों का अभाव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है और आत्मा निष्कर्म होकर सर्वथा मुक्त बन जाता है ॥३३॥

## मतान्तर और उपसंहार

नरअणुपुत्रिचिणा वा धारस चरिमसमयमि जो खधिउ ।

पत्तो सिद्धि देविदवदिय नमह त धीर ॥ ३३ ॥

नरानुपूर्वी धिना वा द्वादश चरम समये य क्षपयित्वा ।

प्राप्तस्सिद्धि देवे द्रवदित नमत त धीरम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अथवा पूर्वोक्त तेरह कर्म प्रकृतियों में से मनुष्य श्रानुपूर्वी को छोड़कर शेष १२ कर्मप्रकृतियों को चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षीणकर जो भोक्त को प्राप्त हुये ह, और देवे-द्रों ने तथा देवे द्रमूरि ने जिन का वन्दन (भुक्ति तथा प्रणाम) किया है, ऐसे परमात्मा महावीर को तुम सब लोग नमन करो ॥ ३४ ॥

भावार्थ—किन्हीं आचार्यों का ऐसा भी मत है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मनुष्य त्रिक आदि पूर्वोक्त १३ कर्मप्रकृतियों में से, मनुष्य-श्रानुपूर्वी के विना शेष १२



कर्म प्रकृतियों का हो सक्ता रहता है। क्योंकि देव द्विक आदि पूर्वोक्त ७२ कर्मप्रकृतियाँ जिनका कि उदय नहीं है व जिस प्रकार द्विचरम समय में स्तिबुकसक्रम द्वारा उदयवती कर्म प्रकृतियों में समाप्त होकर, क्षीण हो जाती हैं इसी प्रकार उदय न होने के कारण मनुष्यआनुपूर्वी भी द्विचरम समय में ही स्तिबुकसक्रम-द्वारा उदयवती कर्म प्रकृतियों में समाप्त हो जाता है। इसलिये द्विचरम समय में उदयवती कर्म प्रकृति में समाप्त पूर्वोक्त देव द्विक आदि ७२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता चरम समय में जैसे नहीं मानी जाती है वैसे ही द्विचरम समय में उदयवती कर्म प्रकृति में समाप्त मनुष्य आनुपूर्वी की सत्ता को भी चरम समय में न मानना ठीक है।

( अनुदयवती कर्म प्रकृति के दलिकों को सजातीय और तुर्यस्थितिवाली उदयवती कर्म प्रकृति के रूप में बदलकर उस के दलिकों व साथ भोग लेना इसे "स्तिबुकसक्रम" कहते हैं )

इस "कर्मस्तव नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के रचयिता श्रीदेवेन्द्रसूरि हैं। ये देवेन्द्रसूरि, तपागच्छाचार्य धाजगच्छद्रसूरि के शिष्य थे ॥३४॥

सत्ताधिकार समाप्त.

ॐ इति कर्मस्तव-नामक दूसरा कर्मग्रन्थ । ॐ

## ॥ सत्ता-यन्त्र ॥

गुणधर्माणां क नाम	मूल प्रवृत्तियां	इतर प्रवृत्तियां	उपशमभक्षि	सायभक्षि	ज्ञानाभक्षि	दर्शनाभक्षि	वेदानाभक्षि	मोहनाभक्षि	आपुत्रमं	नामभक्षि	गोत्रभक्षि	अतरायभक्षि
० थोष स	॥	१४८	०	०	४	४	०	०	०	४	४	४
१ मिथ्यात्व मं	॥	१४८	०	०	४	४	०	०	०	४	४	४
२ मात्स्वान्न मं	॥	१४७	०	०	४	४	०	०	०	४	४	४
३ मिश्र मं	॥	१४७	०	०	४	४	०	०	०	४	४	४
४ अविरत मं	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
५ देशविरत म	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
६ प्रमत्त म	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
७ अप्रमत्त मं	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
८ अप्रवक्ष्य म	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
९ अविद्युत्प्रियायाम् के नव भागो मं	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
१० सूक्ष्मम्पराय म	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
११ वपशा नमोह मं	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
१२ क्षीयमोह म	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
१३ सयोगिक्वली म	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४
१४ अयोगिकेवली म	॥	१४८	१४१	१४१	४	४	०	०	०	४	४	४

# १४८ उत्तरप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका गुणस्थान-दर्शक यन्त्र

नंबर	क्रमसे १४८ उत्तरप्रकृतियों के नाम	बन्धयोग्य गुणस्थान	उदययोग्य गुणस्थान	उदीरणायोग्य गुणस्थान	सत्तायोग्य गुणस्थान
	ज्ञानापरणाय—४				
१	मतिज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
२	श्रुतज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
३	अप्रधिज्ञानावरणीय	१०	१०	१२	१२
४	मन पर्यवज्ञाना०	१०	१२	१२	१२
५	कचलज्ञाना०	१०	१२	१२	१२
	दशनापरणाय—६				
६	अक्षुदशनापरणीय	१०	१२	१२	१२
७	अचक्षुदशना०	१०	१२	१२	१०
८	अघाधिदशना०	१०	१२	१२	१२
९	कचलदशना०	१०	१२	१२	१२
१०	निद्रा	७ $\frac{१}{०}$	१ समय पुन १२	१२	१ समय पुन १०
११	निद्रानिद्रा				
१२	प्रचला	२	६	६	८ $\frac{१}{२}$
१३	प्रचलाप्रचला	० $\frac{१}{०}$	१ समय पुन १०	१२	१ समय पुन १२
१४	स्त्यानादि	२	६	६	८ $\frac{१}{२}$

॥ इन म ७ की पूरा अंक और ६ की एक सातमास, अर्थात् ७  
गुणस्थान और आठवें के मात हिम्मा म स एक गिम्मा समझना । इस  
मात दुगर अङ्का म भी समझ लेना

वेदनीयकर्म-२					
१५	सातवेदनीय	१३	१४	६	१४
१६	असातवेदनीय	६	१४	६	१४
मोहनीयकर्म-२०					
१७	सम्यक्त्वमोहनीय	०	चौषससात तक-५	चौषससात तक-५	११
१८	मिश्रमोहनीय	०	तीसरा ?	तीसरा-१	११
१९	मिथ्यात्वमोहनीय	१	१	१	११
२०	अनन्तानुबन्धिक्रोध	२	२	०	११
२१	अन तानुबन्धिमान	२	२	२	११
२२	अनन्तानुबन्धिमाया	०	२	२	११
२३	अन तानुबन्धि लोभ	०	०	०	११
२४	अप्रत्याख्यानावरणक्रो०	४	४	४	११
२५	अप्रत्याख्यानाघरणमान	४	४	४	११
२६	अप्रत्याख्यानाघरणमाया	४	४	४	११
२७	अप्रत्याख्यानाघरणलोभ	४	४	४	११
२८	प्रत्याख्यानाघरणक्रोध	४	४	४	११
२९	" मान	४	४	४	११
३०	" माया	४	४	४	११
३१	" लोभ	४	४	४	११
३२	सज्वलन क्रोध	११	११	११	११
३३	" मान	११	११	११	११
३४	" माया	११	११	११	११
३५	" लोभ	११	११	११	११
३६	हास्य मोहनीय	१०	१०	०	१०
३७	रति	११	११	११	११
३८	अरति	११	११	११	११
३९	शोक	११	११	११	११
४०	भय	११	११	११	११

४१	सुगुप्ता ,	५	५	५	५
४२	पुरुषवेद	५	५	५	५
४३	स्त्रावेद	५	५	५	५
४४	नपुंसकवेद	५	५	५	५
⊗ आयु कर्म-४					
४५	द्वयश्रायु	७	४	४	१७
४६	मनुष्यश्रायु	४	१४	५	१४
४७	तियचश्रायु	२	५	५	७
४८	नरकश्रायु	१	४	४	७
नाम कर्म-६३					
४९	मनुष्यगति नामकर्म	०	१४	१३	१६
५०	तियचगति "	०	५	५	५
५१	देवगति "	०	४	४	५
५२	नरकगति "	०	४	४	५
५३	एकोद्रियजाति ,	०	२	०	५
५४	द्वोद्रियजाति	०	२	५	५
५५	त्रान्द्रियजाति	०	२	५	५
५६	चतुरिन्द्रियजाति ,	०	२	५	५
५७	पंचेन्द्रियजाति "	०	१४	१३	१६
५८	श्रीदारिकशरार	०	१३	१३	१६
५९	वैश्वानर " "	०	०	४	१४
६०	आहारक , "	सातसम्प्राप्त वेदभाग	०	४	१०
६१	तजम ,	०	१३	१३	१०
६२	कामल "	०	१३	१३	१०
६३	श्रीदारिकअज्ञोपाङ्ग	४	१३	१२	१४

⊗ आयु कर्म का तीसरा गुणस्थान में बन्ध नहीं होता, इसमें तामर को दोर अन्य गुणस्थानों को उसका बन्ध याय समझना ।

६४	वैश्रिय	"	"	७५	४	४	१४
६५	आहारक	"	"	सातसघाट क ६ भाग	द्वरा	द्वारा	१५
६६	श्रौदारिकवधन	"	"	०	०	०	१५
६७	वेप्रिय	"	"	०	०	०	१५
६८	आहारक	"	"	०	०	०	१५
६९	तैजस	"	"	०	०	०	१५
७०	कामण	"	"	०	०	०	१५
७१	श्रौदारिकसघातन	"	"	०	०	०	१५
७२	वेप्रिय	"	"	०	०	०	१५
७३	आहारक	"	"	०	०	०	१५
७४	तैजस	"	"	०	०	०	१५
७५	कामण	"	"	०	०	०	१५
७६	वज्रऋषभनाराचसह०			२	१३	०	१५
७७	ऋषभनाराच	"	"	२	११	०	१५
७८	नाराच	"	"	२	११	०	१५
७९	अधनाराच	"	"	२	७	०	१५
८०	कालिका	"	"	२	७	०	१५
८१	सेवार्त	"	"	२	७	०	१५
८२	समचतुरस्रसस्थान			५	३	०	१५
८३	यप्रोध०	"	"	५	३	०	१५
८४	सादि	"	"	५	३	०	१५
८५	वामन	"	"	५	३	०	१५
८६	कुब्ज	"	"	५	३	०	१५
८७	दृडक	"	"	५	३	०	१५
८८	रुष्णवर्ण तामकम			६	३	०	१५
८९	नीलवर्ण	"	"	६	३	०	१५
९०	लोहितवर्ण	"	"	६	३	०	१५
९१	हारिद्रण	"	"	६	३	०	१५
९२	शुक्लवर्ण	"	"	६	३	०	१५
९३	सुरभिगंध	"	"	६	३	०	१५

६४	दूरभिगंध	"					
६५	तिक्तरस	"	"	"	"	"	"
६६	फटुकरस	"	"	"	"	"	"
६७	कपायरस	"	"	"	"	"	"
६८	अम्लरस	"	"	"	"	"	"
६९	मधुररस	"	"	"	"	"	"
१००	कक्षशस्पर्श	"	"	"	"	"	"
१०१	मृदुस्पर्श	"	"	"	"	"	"
१०२	शुक्रस्पर्श	"	"	"	"	"	"
१०३	लघुस्पर्श	"	"	"	"	"	"
१०४	शातस्पर्श	"	"	"	"	"	"
१०५	उष्णस्पर्श	"	"	"	"	"	"
१०६	स्निग्धस्पर्श	"	"	"	"	"	"
१०७	रुक्षस्पर्श	"	"	"	"	"	"
१०८	नरकानुपूर्वी	"	"	"	"	"	"
१०९	तिर्यञ्चानुपूर्वी	"	"	"	"	"	"
११०	मनुष्यानुपूर्वी	"	"	"	"	"	"
१११	देवानुपूर्वी	"	"	"	"	"	"
११२	शुभाविहायोगति	"	"	"	"	"	"
११३	अशुभाविहायोगति	"	"	"	"	"	"
११४	पराघात	"	"	"	"	"	"
११५	उच्छ्वास	"	"	"	"	"	"
११६	घ्रातप	"	"	"	"	"	"
११७	उद्योत	"	"	"	"	"	"
११८	अगुरुलघु	"	"	"	"	"	"
११९	तीक्ष्णर	"	"	"	"	"	"
२०	निमाण	"	"	"	"	"	"
२१	उपघात	"	"	"	"	"	"
२२	घस	"	"	"	"	"	"
२३	धादर	"	"	"	"	"	"

बीपासि  
आठवें के  
भाग तक

१३, १४, २

तरइवा

१४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००

१०

१०

१०

१०

१०

१२४	पर्याप्त	"	७	१४	१४	१४
१२५	प्रत्येक -	"	७	१३	१३	१४
१२६	स्थिर	"	७	१३	१३	१४
१२७	शुभ	"	७	१३	१३	१४
१२८	सुभग	"	७	१४	१३	१४
१२९	सुम्बर	"	७	१३	१३	१४
१३०	आदेय	"	७	१४	१३	१४
१३१	यश कीर्ति	"	१०	१४	१३	१४
१३२	स्थावर	"	१	७	७	१०
१३३	सूक्ष्म	"	१	७	७	१०
१३४	अपर्याप्त	"	१	१	१	१०
१३५	साधारण	"	१	१	१	१०
१३६	अस्थिर	"	१	१३	१३	१४
१३७	अशुभ	"	१	१३	१३	१४
१३८	दुर्भग	"	७	४	४	१४
१३९	दुःस्वर	"	२	१३	१३	१४
१४०	अनादेय	"	२	४	४	१४
१४१	अयश कीर्ति	"	६	४	४	१४
गोत्र कर्म-२						
१४२	उच्चगोत्र		१०	१४	१३	१४
१४३	नीचगोत्र		२	५	५	१४
अन्तरायकर्म-५						
१४४	दानांतराय		१०	१२	१२	१२
१४५	लाभांतराय		१०	१२	१२	१२
१४६	भोगान्तराय		१०	१२	१२	१२
१४७	उपभोगांतराय		१०	१२	१२	१२
१४८	घोर्यांतराय		१०	१२	१२	१२



## परिशिष्ट ।

‘गुणस्थान’ शब्द का समानार्थक दूसरा शब्द श्वेताम्बर शास्त्र में देखने में नहीं आता परन्तु दिगम्बर साहित्य में उसके पर्याय शब्द पाये जाते हैं, जैसे —सत्सप औष, सामान्य और जीवसमास ।

( गोम्मटमारु जी० गा० ३-१० )

‘ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के मूलाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप गुणस्थान हैं ।’ गुणस्थान की यह व्याख्या श्वेताम्बर ग्रंथों में देखी जाती है । दिगम्बर ग्रंथों में उसकी व्याख्या इस प्रकार है—‘दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की उदय आदि अवस्थाओं के समय जो भाव होते हैं उनसे जीवों का स्वरूप जाना जाता है इस लिये वे भाव, गुणस्थान कहते हैं । ( गो० जी० गा० ८ )

ज्ञान आदि गुणस्थानों में वेदनीयकर्म की उदीरणा नहीं होती, इससे उन गुणस्थानों में आहारसज्ञा को गोम्मट सार ( जीवकाण्ड गा० ६३८ ) में नहीं माना है । परन्तु उक्त गुणस्थानों में उस सज्ञा का स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती, क्योंकि उन गुणस्थानों में अज्ञातवेदनीय के उदय आदि अन्य कारणों का सम्भव है ।

देशविरति के ११ भेद गोम्मटसार ( जी० गा० ४७६ ) में हैं जैसे —(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोपध (५) सच्चित्तविरति, (६) रात्रिमोजन विरति, (७) ब्रह्मचर्य (८) आरम्भविरति, (९) परिग्रहविरति, (१०) अनुमतिविरति, और (११) उद्दिष्टविरति । इस में 'प्रोपध' शब्द श्वेताम्बरसम्प्रदाय प्रसिद्ध 'पौपध' शब्द के स्थान में है ।

गुणस्थान के क्रम से जावों क पुण्य, पाप दो भेद हैं । मिथ्यात्वों या मिथ्यात्वोन्मुख जावों को पापजीव और सम्यक्त्वों को पुण्यजीव कहा है ।

( गो० जी० गा० ६२१ )

उदयाधिकार में प्रत्येक गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की जो जो संख्या कही हुई है, वह सब गोम्मटसार में उल्लिखित भूतबलि आचार्य के मत के साथ मिलती है । परन्तु उसी ग्रन्थ ( कर्म० गा० २६३ २६४ ) में जो यतिवृषभाचार्य के मत का उल्लेख किया है उस के साथ कहीं कहीं नहीं मिलती । पहले गुणस्थान में यतिवृषभाचार्य ११२ प्रकृतियों का उदय और चादहवें गुणस्थान में १३ प्रकृतियों का उदय मानते हैं । परन्तु कर्मग्रन्थ में पहिले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का और चौदहवें गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय माना है ।

कर्मग्रन्थ में दूसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की संज्ञा मानी हुई है, परन्तु गोम्मटसार ( कर्मकाण्ड ) में आहारकद्विक और तीर्थङ्करनामकम, इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ ही की संज्ञा उस गुण

स्थान में माना है । इसीप्रकार गौर्मदसार (कर्मकाण्ड ३३३ से ३३६) के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान जाव को नरक-आयु की सत्ता नहीं होती और छठे तथा सातवें गुणस्थान में नरक-आयु, तिर्यञ्च आयु दो की सत्ता नहीं होती, अतएव उस ग्रन्थ में पाँचवें गुणस्थान में १४७ की और छठे सातवें गुणस्थान में १४६ की सत्ता मानी हुई है । परन्तु कर्मग्रन्थ के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में नरक-आयु का और छठे, सातवें गुणस्थान में नरक, तिर्यञ्च दो आयुओं की सत्ता भी हो सकती है ।



---

# दूसरे कर्मग्रन्थ का कोष ।

( हिन्दी-अर्थ-सहित )

---



# कोष.



## अ

गणना क्र० प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी
२०—अ	अ	और
४, ६, ८, ९ १०, १२, १४, १६, १८, २०, } अत २२, २४, २६ २८, ३०	अत	विच्छेद
२०—अतराय	अतराय	अतरायकर्म
१८—अतिम	अतिम	अत न—आपरी
१८, २८—अम	अम	आम—हिरसा
१—अगुरुलघु	अगुरुलघु	अगुरुलघुनामकर्म
१०, १२—अगुरुलघुचतुष्टय	अगुरुलघुचतुष्टय	अगुरुलघुनाम, उपधात्वनाम, पराधातुनाम और चतुष्टयनामकर्म
१६—अपत	अपत	अपततत्त्वद्विगुणं २० १२
०—अपत	अपत	अपत वाचि ११ मरुम
२२, २४, २६—अपतनि	अपतनि	अपतनि चतुष्टय २० २६
२—अपतनिद्वय	अपतनिद्वय	"
१० २१—अट	अट	आठ
६—अट्टापरण्य	अट्टापरण्य	अट्टापर

ना	मा	स०	दि०
	७—अटतीत	अट्टविगम्	अट्टास
	२५—अट्टयाज मय	अट्टागवादि	एत ही अट्टादीम
	c—अट्टान	अट्टत	
	५, १४, २६—अट्ट	अ टावल्पागु	अट्टान
	१२—अट्टत	अन	अनतागुविचक्राय
	१६—अट्टाह गदुग	अनन	अन का अभाय
	१३, १४, १५—अट्टाय	अनादपट्टि	अना, गनाम और अयय
	२४—अट्टदीरग	अट्टाय	कालिगामकम
	१८—अट्टुन्नी	अट्टारक	ट्टय का अभाय
	२५—अत्तनाभ	आतुपूर्वी	हमीरद्या नहा करे वाला
	२१, ३२—अधिर	आरमलाभ	आतुपूर्वीनामकम
	७—अधिरदुग	अधिर	स्वरूप प्राप्ति
	२२—अनपर	अधिरट्टि	अधिरनामकम
	८—अ नह	अयतर	अधिरनामकम और अशुभ
	११, १८—अतियट्टि	अयथा	नामकम
	२०,	अनितृत्ति	हो म स एक
	३२—अपानस		अ प प्रकार स
	१३—अपस	अपयाप्त	अनितृत्तिवाहरसम्पराय
	८, १७—अपसस	अप्राप्त	गु० १०२०
	२३	अप्रसस	अपयाप्तनामकम
	१८, २६—अपुत्र	अपुत्र	प्रा त नहीं
			अप्रसससयतगु० १५
			अपुत्रकरणाशुशुस्थान १६

गा०	प्रा०	स०	हि०
१	—अवध	अवध	व धामाव
२	—अभिनव	अभिनव	नवा
७	—अरि	अरि	अरिमात्रीय
२	—अत्रित	अत्रित	अत्रितसम्यग्दृष्टिगु० प्र० १२
२०	—असात	असात	असातसदनीर
७	—असात	असात	'
२, ३	—असात	असात	'
२६	—अधवा	अधवा	पञ्जातर

## आ

६	—आइ	आदि	आरम्भा
२३, २६ } २६, २६ }	—आइ	आदि	वर्गद्व
२२, २३	—आइज	आइज	आइजनामकम
२१	—आइजयण	आइजहनन	प्रथम-वज्रदण्डनाराय महनन
६, २६, २२	—आइ	आयुस्	आयुस्म
६	—आइअ	आयुअ	
८	—आगच्छे	आ+गच्छे-	आइ
		आगच्छेत्	
६	—आगच्छे	आगच्छे	सम्य ननाम
४, ४	—आपय	आपय	आपयनामकम
२८	—आपयदुग	आपयदुग	आपयनामकम और अद्योत नामकम
१३	—आहार	आहारक	आहारकपरीर तथा आहार



गा० प्रा० स० दि०

१०, २४—आहारचुगल आहारचुक्र एकप्रज्ञोपादानाम  
 ३, ८, १०—आहारगदुग आहारचुक्र " "  
 इ

१४ २८—इग एक एकद्रियजातिना०  
 २६—इगचतमय एकचतवारिच एकसौ इतता ॥३  
 च्छत

३०—इगसय एकसत एकसौ एक  
 १७—इगसी एकायाति इक्यारा

४—इगदिय सय एकाधिकगत एकसौ एक  
 १४—इगारसय एकादशत एकसौ ग्यारह

११—इगग एकीक एक एक  
 २६—इतयी स्त्री एक एक  
 ८—इह इह एक एक

इस जगह

उ

१२, २३—उच्छ उच्छ उच्छेगोत्र  
 १२—उच्छेय उच्छेद विच्छेद  
 ४, १६—उ-जोय उच्छान उच्छात  
 १३, १४, २३—उदय उदय उदय—यम कर्म का अर्थ  
 भय पृ० २

१, २१—उदय उदय  
 १३—उदीरया उदीरया

"  
 उदीरया विवाह काल प्राप्त  
 न होन पर भी प्रयत्न निश्च  
 य स विष जानेवाना

गा०	प्रा०	स०	हि०
			वम पत्र का अनुभव
२०	—उदीरणा	उदीरणा	,,
१	—उदीरणा	उदीरणा	,
६, ०१	—उत्तर	औदार	औदारिकशरीरना०
६	—उत्तरदुग्	औदारद्वि	औदारिकशरीर और औदारिकशरीरनामक
२, ०५	—उत्तरम	उत्तरम	उत्तरगतकपायवैतनायक— छद्मस्थगुणस्थान पृ० २२
१६	—उत्तरमत्तगुण	उत्तरमत्तगुण	,
६	—उत्तर	उत्तर	अज्ञोपाज्ञनामक
३२	—उत्तरगतिग	उत्तरगतिग	औदारिकअज्ञोपाज्ञ, वैदिक अज्ञोपाज्ञ और आहा रकअज्ञोपाज्ञनामक
		ऊ	
२	—ऊ	ऊ	न्यून
		ए	
२०, ३३	—एकतर	एकतर	दोम से एक
२४	—एना	एना	यह
		ओ	
३	—ओ	ओ	नामा य
		क	
११	—क	क	अनुक्रम

गा० प्रा०	स०	हि०
१, ३, २६—कम्म	कमन्	कम पृ० ३२
२१—कम्म	कमन्	कामण्यरीरनामकम
२६—कमसा	कमथ	अनुत्तन से
६—कृत्तगइ	कृत्तगति	अशुभवि आगतितनाम
१—इच्छा	इत्ता	कम
	इत्ता	अशुत्तामाइनीय
	इत्ता	
२८ २६— ३०, ३३ } एम	नप	नाथ
३—अगइ	एगति	विद्यायोगतिनामकम
२१—अगइदुग	एगतिद्विक	शुभविद्यायोगतिनाम
		और अशुभविद्यागोगति
		नामकम
२६—एय	एय	नाथ
२०—एयग	एयक	एयकभेषि प्राप्त
३४—एयविउ	एययित्वा	एय कर क
१—एयविय	एयपित	एय किया हुआ
२, २०—एयीण	एयीण	एयीणकपायनीनरागद्व-
		अस्थशु०पृ० २६
१६—एयव	एय	प्रक्षेप
	ग	
२३—गइ	गति	गतिनामकम
३१—गयदुग	ग यद्विक	एरभिगथ और दुर भगथ
		नामकम

गा०	प्रा०	स०	हि०
	३—गहग	ग्रहण	प्राप्ति-सम्बन्ध
	०३—गुण	गुण	गुणस्थान पृ० ४
	१—गुणगण	गुणस्थान	"
१६	८—गणसङ्घि	एकोनसष्टि	स्नसट

## च

	७, २२—च	च	चौर
११, २६, २७—चउ		चतुर्	चार
२६—चउक्क		चतुष्क	चार का समुदाय
२६—चउदस		उत्तुगन्	चौद
१२, ३०—चउगण		चतुदशन	उत्तुगनावरण—चतुदशना- वरण, अचतुर्गनावरण, अत्रिदशनावरण और चतु सदशनावरण
	५—चउगणरि	चतु साननि	चौत्तर
	१५—चउसप	चतु शत	एक सौ चार
१०, २३—चउम		चउम	अतिम
३२, ३४—चउमि		चउम	"

## छ

७, १६ } —छ	पप्	छह
२१, २६ }		
३०—छक्क	पक्क	छह वा समुदाय
६—छप्पन	पट्पञ्चागत	छप्पनु
१०—छन	पण	

गा०	प्रा०	स०	हि०
१०—	छवीस	पद्विंशति	छत्तर
१८—	दसद्वि	पत्पष्टि	द्वियासत्
१७—	दससरति	पत्सप्तति	द्विदत्तर
४—	द्विवट	सवात	सवातसहनननामकम

११, १०  
१६, १७ } -- द्वेष्ट  
१८, १६  
२०, २३

द्वद

द्वभाय

## ज

८—	जइ	यदि	जो
७—	जया	यदा	जव
१—	जइ	यथा	जिसप्रकार
८—	न	यद्	क्याकि
२५, २७—	जा	यावत्	पय त
४—	जाइ	जाति	जातिनामकम
३३, ६ १०, २२ १०	} -- जिष	जिन	ताङ्कुरामकम
४—	नो	य	जो

## ठ

२५—	ठिइ	स्थिति	कम कच की काल मर्यादा
-----	-----	--------	----------------------

## त

५—

था

स्थापद

शा०	प्रा०	स०	दि०
२६—	तद्व्य	तृतीय	तीसरा
२६—	त२प	तृतीय	,
६, ३१—	सणु	सनु	शरीरनामधर्म
३—	तत्थ	सथ	उस म
२३, ३३—	तसतिग	प्रसत्रिक	प्रसनाम, घादरनाम धीर पयोप्तनामधर्म
६—	तसनव	प्रमनवक	प्रसयादि६ प्रकृतियों पृ ४६
१—	तह	सधा	ठसी प्रकार
३४—	त	त	उस को
१२, २—	ति	इति	स्वरूप बोधक
१२—	ति	त्रि	तीन
५—	गि	इति	स्वरूप बो २क
६—	तिग्रकसाय	तृतीयरूपाय	प्रत्याख्यानपरण
१६—	तिक्साय	तृतीयरूपाय	"
०४—	निग	त्रिक्	तीन का मनुदाय
२१—	तित्थ	तीथ	तीथङ्करनामधर्म
३—	तित्थपर	तीथङ्कर	"
१८—	तियग	त्रिक्	तीन का सञ्जदाय
२८—	तियक्साय	तृतीयरूपाय	प्रत्याख्यानपरणरूपाय
४, ०६ ) २७, ०८ )	तिरि	तियच्	तियञ्च
१६—	तिरिगह	तिरगति	तिदञ्चगतिनामधर्म
१६—	तिरिणुपी	तियगानुपूर्वी	तिरञ्चगानुपूर्वीना०
२६—	तिडियसय	अधिकयत	एक सौ तीन
१०, २२—	तीस	दिशत	तीस

मा०	प्रा०	म०	हि०
२६	—	तुरीयकोड	सज्जलनकोष
१६	—	तुरीयनोम	सज्जलनलाभ
२१	—	तय	तेपसशरीरनामकम
२६	—	तर	तरह
३३	—	तरस	तिरस
७	—	तवट्टि	

थ

१४	२८	—	थार	स्थार	स्थारनामकम
	४	—	थारचउ	स्थारचतुष्क	स्थावगाम मृमनाम, अप याप्तनाम और साधारण नामकम
	४	—	थाण	स्त्यानद्धि	स्त्यानद्धिनिग
१७, २४	—	—	थीणतिग	स्त्यानद्धि क	निदानिदा प्रचनाप्रचना और स्त्यानद्धि
	१	—	थणिमो	स्तु-स्तुम	स्तुति करत इ

द

२०	—	दसगाचउ	दशनचतुष्क	चतुदशनापरण	आणि ४
	५	—	दु	प्रकृतिया	दो
३०, ३१	—	दुचरिम	द्वि		
२०	—	दुनिडा		अग्नितम स	
११	—	दुनीरा			

मा०	प्रा०	स०	दि०
११, १८	दुवाम सप	द्वाविंशति शत	एक सौ बाइस
१०	दुसय	द्विंशत	एक सौ दो
१६	दुहग	दुभग	दुभगनामकम
४	दुहगतिग	दुभगत्रिक	दुभगनामकम, दु स्वरनाम कम और अनादेयनाम कम
२२	दुसर	दु म्वर	दु स्वरनामकम
३१	द्व	देन	द्व
१४	द्विंद	द्वद	द्वो का द्व तथा श्रादेन द्वस्रि
२, १६	देम	देश	देशरितयुगस्थान ७०१४
न			
४ २६	नपु	नपुमक	नपुमकपेद
३४	नमह	नम्-नमत	नमन करो
२४	नरअणुपुत्री	नराणुपूर्वा	मलय आणुपूर्वी
६	नरनिग	नरत्रिक	नरगति, नराणुपूर्वी श्रां नराणु
२०	नरप	नरक	नरक
४	नरयनिग	नरकत्रिक	नररगति, नरकाणुपूर्वी श्रां नरकाणु
३०	नवनरइ	नवनरति	नियानने
२०, ३०	नाथ	ज्ञान	ज्ञानावरण
१२	नाथत्रित्य दस्य	ज्ञानत्रिनदस्य	पाँच ज्ञानावरण
६, ६६	निय	नीच	पाँच अंतराय कम नीचगोत्र



मा०	प्रा०	स०	हि०
	७—निष्ठा	निष्ठा	समाप्ति
६, २	—नि, दुग्	नि । द्वि	निष्ठा और प्रचला
३१, १०, २१	निमिष	निर्माणा	निर्माणा नामकम्
३२	—निय	नीच	नीचगोत्र
२	—नियत्रि	नित्रि	नित्रिगुणस्थान पृ० १६
३८	—निरप	निरप	नरक
२६	—निरयाउ	निरयापुत्	नरक भापु
१४	—निरयाणु	निरयाउपूर्वी	नरकाउपूर्वी नामकम्
	पुष्पी		
७	—नेह	नी-नयति	प्राप्त करता है

## प

१७	—पकरोव	प्रनेप	प्रक्षेप—मिलाना
२७	—पम्	प्रथम	पदचा
३१, ६, २६	—पण	पञ्चन्	पॉच
११	—पणग	पञ्च	पाच
२७	—पणपाल	पञ्चचत्वारिंशत्	पताचीस
२०	—पणपना	पञ्चपञ्चाशत्	पचपन
५	—पणबीम	पञ्चविंशति	पचान
३१	—पणसीह	पञ्चागति	पिनामा
६, २३	—पण्ण	पञ्चैर	पञ्चैरिन्द्रियजातिनाम०
३३	—पण्ण	पञ्चैर	
१, ३२	—पत्त	प्राप्त	प्राप्त हुआ
	रार	प्र + आप्-प्राप्	प्राप्त करक

गा०	प्रा०	स०	दि०
२, ७—	प्रमत्त	प्रमत्त	प्रमत्तसयतगु०पृ० १६
१७, २४,			
२४—	प्रयटि	प्रट्टति	प्रङ्गति
२३—	पर	परम्	विशेषता
३२—	परित्त	प्रत्येक	प्रत्येकनाम०
२१—	परित्ततिग	प्रत्येकत्रिक	प्रत्येकनाम, स्थिरनाम और शुभनामकम
११—	पुम	पुंस्	पुरुषपद
२६—	पुम	पुंस्	,
		फ	
३१—	फास	स्फय	स्फयनामकम
		व	
१, ३—	वध	वध	वध पृ० १
३१—	वधण	वधन	वधननामकम
८—	वधु	वध्-वधन्	वधता वृद्धा
१०—	वायाला	द्विचत्वारिंशत्	वयालीम
२६—	वार	द्वादशन्	वारह
२२, ३०—	वारस	"	"
२६, २८—	विय	द्वितीय	द्विसप्त
६, १६—	वियवसाय	द्वितीयवसाय	अप्रत्यय दानावरण
२६—	वियाल सय	द्वाचत्वारिंशच्छत	एक सौ वयालीस
१६—	विससरि	द्वासप्तति	षट्तर
३३—	विसयदि	"	

शा०	प्रा०	स०	हि०
		<b>भ</b>	
२४—	भगवत्	भगवान्	भगवत्
१०—	भय	भय	भयमोहनीय
६ ११—	भाग	भाग	भिन्ना
२०			
१०—	भय	भय	विच्छद
		<b>म</b>	
५—	मभ	मभ	भीतर
१६—	मय	मय	मत्पय
२३, २३—	मयुष	,	,
२४—	मयुषाड	मयुषाडम्	मत्पय आड
२६—	मय	मय	मायकपाय
१६—	माया,	माया,	मायाकपाय
२, ३, १३—	मिच्छा	मिच्छा	मिच्छादृष्टिगु०पृ०६
१४			
४, १४—	मिच्छा	मिच्छा	मिच्छादृष्टमोहनीय
२६, १६—	मील	मिश्र	सम्यग्मिच्छादृष्टिगु०पृ०१:
१३, १६—	मील	मिश्र	मिश्रमोहनीय
		<b>य</b>	
३३—	य	य	पुन, विर
		<b>र</b>	
१०—	रह	रति	रतिमाहनीय
३१—	रस	रस	रसनामयम
१६—	रिमहना रायद्व	श्रुभनारायद्वि	श्रुभनारायचम०शौर नाराचम हनन

मा०	प्रा०	स०	दि०
		ल	
२५—	लब्ध	लभू-लब्ध	प्राप्त
३०—	लोह	लोभ	लोभकपाय
		व	
२३—	व्य	इव	समान
७, ३२—	व	वा	अथवा
६—	वह्न	वन्न	वज्ररूपभनाराच स०
३—	वज्ज	वज्ज वर्ज	छाडकर
१०—	वयण	वय	वयनामकम
३४—	वदिय	वद्-वन्दित	वन्दन किया हुआ
३१—	वन	वण	वयनामकम
२१—	वन्नचउ	वयचतुष्क	वयनाम, गवनाम, रसनाम और स्पर्शनाम- कम
३०, ३४—	वा	वा	अथवा
२७—	वि	अपि	भी
१६—	विडवट्ट	वेत्रियाटक	देवगति आदि ८ प्रकृ तियों पृ० ६४
३०—	विग्घ	विण	अंतराय
१४, २८—	विगघ	विकल	विकलेन्द्रिय ( द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रियतक ) भातिनामकम
२६—	विजिय	विजिन	जिननामकमके सिवाय
२७, ३४—	विणा	विना	सिवाय
६, २६, २७—	विणु	विना	छोडकर
१३—	विणान	विपाक	कल,

मा०	प्रा०	स०	हि०
११	— विह	विष	प्रकार
३४	— वीर	धार	भीमहाधार
१	— वारजिण	वीरजिन	महावीरतीवृत्
३	— वीससय	विंशतियत्	एकसौ वीस
७	— बुद्धिज	वि-इत्+विद्— बुद्धियत्	विच्छेद पात हे
२२	— बुद्धय	बुद्धेद	बुद्धद
१३	— वषण	वषन	अनुभय—भाग
२२, २४	— वषणीय	वेदनीय	वेदनीयकम
१८	— वेपतिग	वेपत्रिक	पुरपद, वीपद भीर नपुमकपेद

## स

२३	— सग	सप्तद	सात
२०	— सगवन्न	सप्तपञ्चाशन्	सत्तावन
६	— सगसयदि	सप्तसप्तति	सप्तहत्तर
१६	— सगसीद	सप्ताशीति	सत्तासी
२, २०	— सजोगि	सयोगिन्	सयोगिकेषलिगु०पृ०१८
१६	— सट्टि	पट्टि	साठ
७	— सत्त	सप्तन्	सात
२६, २७	— सत्तग	सप्तक	सात वा सप्तदश
६	— सत्तट्टि	सप्तपट्टि	सहसठ
३	— सत्तर सय	सप्तदश शत	एक सौ सत्रह
११, १६	— सत्तर	सप्तदशन्	सत्रह
१३	— सत्तर सय	सप्तदश शत	एक सौ सत्रह

पाठ	श्लोक	सं.	दि०
१, १६—	सत्य		सत्ता—आत्मा ये साध सग ह्ये वगोंका अस्तित्व
१०—	कनक रत्न		समघटुरस स०
२१—	मन्द		दुमरा गिरसा न बिया शा सके ऐसा सद्धम काल
२३, २४—	मन्द		१
१५—	स		सौ
१—	सव		सव
३१—	मयोनि		मयोनिवैबलिगु०
२, १८, १९—	सद्व		सद्वनन मकम
११—	सं		सशाशनामवमं
११—	सद्वन		सद्वनन कपाय
१६—	सद्वनदिक		सद्वनन शोष, मान और साया
३३, ११—	सद्वन		सद्वननामकम
३३—	सन्		सत्ता
११—	सद्व		सद्वननसम्यगुद्दिगु० पृ० १०
११, १६—	सद्व		सद्वननसम्यगुद्दिगु०
१६—	सद्वन		१
११, ११—	सद्व		सद्वननकीद
११, ११—	सद्व		सद्वननसम्यगुद्दिगु० पृ० ६
१६, १६—	सद्वन		सद्वननसम्यगुद्दिगु० पृ० ६
२८—	सद्वन		सद्वननसम्यगुद्दिगु०

गा०	प्रा०	स०	दि०
३४—	सिद्धि	सिद्धि	मास
६—	सु खगद्	सु रगति	शुभत्रिहायागतिना०
२२ ३३—	सुभग	सुभग	सुभगनामकम
६—	सुदुग	सुद्विक	द्वगति और द्वावपूर्वी
७, ८ २७—	सुराज	सुरापुत	द्वभायु
३२—	सुसर	सुसर	सुम्बरनामकम
७, ११, } १६३० }	सुहुम	सुहुम	सुहुमसम्परायण० पृ २२
१४—	सुहुमतिग	सु-मगिक	मुन्मनाम, अपर्याप्तनाम और साधारणनाम
२२—	सुसर	सुस्वर	सुम्बरनामकम
		ह	
१०—	हास	हास्य	हास्यमाहनीय
२६—	हासद्वग	हास्यपटक	हास्यमोहनीय आदि ६प्रक तियों पृ० ६२
१८—	हासाइक्षक	हास्यादिबन्ध	
११—	हीश	हीन	रहित
४—	हुद	हुयद	हुयदसस्थावना०



# ‘कर्मस्तव’ नामक दूसरे कर्मग्रन्थ की मूलगाथायें ।



तह धुणिमो वीरजिण, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइ ।  
बधुदओदीरणया-सत्तापत्ताणि मधियाणि ॥ १ ॥

मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।  
नियट्टिअनियट्टि सुद्धुमु-उसमखाण सओगिअजोगिगुणा ॥२॥

अभिनवकम्मग्गहण, धधो ओहेण तरथ वीससय ।  
तिथयराहारगदुग-धज्ज मिच्छम्मि सत्तरसय ॥ ३ ॥

नरयतिग जाइथापर-चउद्धुडायउच्छिउद्धुनपुमिच्छ ।  
सोलतो इगाहियसय, सासणि तिरिथीणदहगतिग ॥ ४ ॥

अणमज्जागिइसधय-एचउनिउज्जोयकुल्लगइत्थि ति ।  
पणवीसतो मीसे चउमयरि दुआउअभवधा ॥ ५ ॥

सम्मे सगसयरिजिणा उवधि धइर नरतिगाविअकसाया ।  
उरलदुगतो देसे, सत्तट्ठी निअकसायतो ॥ ६ ॥

तेषट्ठि पमत्ते सो-ग अरइ अधिरदुग अजस अस्साय ।  
बुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउ जया निट्ट ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अपमत्ते, सुराउ धधतु जइ इहागच्छे ।  
अन्नह अट्ठावना, ज आहारगदुग धधे ॥ ८ ॥

अडधन्न अपुव्वाइम्मि, निद्धुगतो छपन्न पणभारो ।  
सुरदुगपणिदिसएगइ नसनव उरल विणु तणुवगा ॥ ९ ॥



समचउरनिमिणजिणव-एणअमुदलहुचउ छुनसि तीसतो ।  
 परमे छुवीसयधो, हासरइकुच्छुमयभंओ ॥ १० ॥

अनियट्टिभापणगे, इगेगहीणो दुवीसविहरधो ।  
 पुमसजलणचउएह, वमेण छुओ सतर सुहुमे ॥ ११ ॥

चउदसखुचवजसनाण-त्रिग्वदसग ति सोलसुच्छेओ ।  
 तिसु सायवधेओ, सजोगिव अनुअतो अ ॥ १२ ॥

उदओ विवागवेयण मुदीरणमपत्ति इह दुवीससय ।  
 सतरसय मिच्छे मा-ससम्मआहाराणणुदया ॥ १३ ॥

सुहुमतिगायवमिच्छ मिच्छत सासणे इगारसय ।  
 निरवाणुपुच्चियुदया अणयावरइगाविगलअतो ॥ १४ ॥

मीसे सयमणुपुन्वी-णुदया मीसोदयेण मीसतो ।  
 चउसयमजप सम्मा-णुपुच्चियेखा त्रियकसाया ॥ १५ ॥

मणुतिरिणुपुच्चियुदया, दुहगअणाइउजदुग सतरछेओ ।  
 सगसीइ देसि तिरिगई-आउ िउउज्जोयतिकसाया ॥ १६ ॥

अट्टच्छेओ इगसी, पमत्ति आहारजुगलपक्खेवा ।  
 यीणतिगाहारगदुग-छेओ छुससयरि अपमत्ते ॥ १७ ॥

सम्मत्तितिमसघयण-तियगच्छेओ विसत्तरि अपुणे ।  
 हासाइइअतो, छुसाट्टे अनियट्टि घेयतिग ॥ १८ ॥

सजणणतिग छुच्छेओ, मट्टि सुहुमदिम तुरियलोभतो ।  
 गुणस ट्टि रिसहनारायदुगअतो ॥ १९ ॥

सगवन्न खीणदुचरिमि, निहृदुगतो अचरिमि ❀ पणपन्ना ।  
 नाणतरायदसण-चउ छेत्रो सजोगि वायाला ॥२०॥

तित्थुदया उरलाधिर-खगद्दुग परित्ततिग छ सठाणा ।  
 अगुल्लहुव नचउ निमि-एतेयकम्माइसघयण ॥२१॥

दूमर सूसर राया-साएगयर च वोस बुच्छेत्रो ।  
 यारस अजोगि सुमगा-इज्जइ सन्नयरवयणिय । २२ ॥

तमतिग पण्णिदि मणुया-उगइ जिणुश्च ति चरमसमयतो ।  
 उदउ वुदीरणा पर-मपमत्ताई सगगुणेषु ॥ २३ ॥

एसा पयडितिगूणा, वेयणियाहारजुगलधीणतिग ।  
 मणुयाउ पमत्ता, अजोगि अणुदीरगो भगव ॥ २४ ॥

सत्ता कम्माण ठिई, यघाईलद्धअत्तलाभाण ।  
 सते अडयालसय, जा उवसमु विजिणु वियतइए ॥ २५ ॥

अणु-घाइचउक अण-तिरिनिरयाउ विणु धियालसय ।  
 गम्माइचउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्तसयमहपा ॥ २६ ॥

एवग तु पण्य चउसु धि, पणुयाल नरयातिरिसुराउ धिणा ।  
 सत्तग धिणु अटतोस, जा अणियट्ठी पढमभागो ॥ २७ ॥

घाघरतिरिनिरयायघ-दुग धीणतिगेग विगतासाहार ।  
 सोलखत्रो दुर्वाससय, धियंसि धियतियकसायतो ॥ २८ ॥

तरयाहसु चउदतत-रवाग्दुवगुचउतिदियमघ वमसो ।  
नपुरिपिदासद्गगु-सगुरियबोहमपमापगभा ॥ २६ ॥

सुहुमि हुमय सोदता ग्राणदुपरिमगमघो दुनिदससो ।  
नयनपर अरमसमघ चउदसगुगालुषिगता ॥ ३० ॥

पलसाह सयागि अज्ञा-गि दुघरिम दधरगहगधदुग ।  
वासदृ धनगगतलु-धधगसपायपगु निमिग ॥ ३१ ॥

सधयगुघधिरअठाण लुङ्ग अगुदगदुचउट अयउतत ।  
साय न असाय धा, परिष्णुपगतिग सुसर निय ॥ ३२ ॥

विसयदि रघो य धारमे, तरस मगुयतमतिग जसाहउत ।  
सुमगमितुदध गणिदिय सायानाएगपरदुघो ॥ ३३ ॥

नरअणुपुषिप पिणा धा, धारस धरिमसमयोडेम जा रविउ ।  
पतो सिद्धि दधि-दधदिय गमद न धीर ॥ ३४ ॥



